UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180903

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 82 S 56 R Accession No. H 3054

Author ..... श्रीवास्तव, कृष्णविहारी.

Title रास्ते, मोड़ और पड़ाव. 1959.

This book should be returned on or before the date last marked below.

रास्ते, मोड़ और पगडंडी

कृष्णकिशोर श्रीवास्तव

रामप्रसाद एण्ड सन्स
पुस्तक प्रकाशक : आगरा
रौगल बुक डिपो

© कृष्णकिशोर श्रीवास्तव
१९५९

मूल्य : एक रुपया पचहत्तर नए पैसे

दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा

महानाटककार

कालिदास

को

इस शिकायत के साथ

कि

उनकी लेखनी पक्षपाती थी—

उसने समाज के एक ही अंग को अपनाया

निर्देश

कलामर्मज्ञों ने ललितकलाओं के पाँच भेद माने हैं—शिल्प, मूर्त, चित्र, संगीत तथा काव्य। इन पाँचों कलाओं में काव्य को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। काव्य की विवेचना करने वाले विद्वानों ने काव्य-क्षेत्र में उच्चतम स्थान नाटक को दिया है। नाटक का यह स्थान न किसी पक्षपात का परिणाम है, न किसी एकांगीयता का। अपनी व्यापकता तथा जीवन से निकटता के कारण नाटक श्रेष्ठता का अधिकारी है। ललितकलाओं के भेदों-उपभेदों में सम्भवतः नाटक ही ऐसा है जिसमें ललितकलाओं के सभी रूप एक साथ आ जाते हैं। रंगमंच व्यवस्थापन के लिए शिल्पकला, मूर्तिकला, चित्रकला की आवश्यकता है। नाटक में संगीत को तो आचार्य भरत से लगाकर आज के सिनेमा निर्माता तक स्वीकार करते हैं—और काव्य तो वह स्वयं ही है।

ललितकलाओं का यह शीर्ष—नाटक—विचारों का सबसे अधिक प्रभावशाली माध्यम है। चरित्र-चित्रण और घटनाओं का प्रदर्शन करने में नाटक से अधिक पटु कोई कला नहीं है। कुछ कलाएँ आँखों के मार्ग से मन को मोहती है, कुछ कानों के द्वार से मन पर छाती हैं। पर नाटक तो आँख, कान सभी को अपनाकर मन तक अपना लेता है। नाटक का सच्चा रूप तभी हमारे सामने आता है जब वह अपना सम्पूर्ण वैभव लेकर रंगमंच पर निखार पाता है। संवादों के उस सिलसिले को जो केवल पठनीय हों, मैं नाटक नहीं मानता। नाटक तो पात्रों के संवाद और हाव-भाव से लगाकर दृश्यावली के माध्यम तक से चमत्कार उत्पन्न करता है।

नाटकों के सम्बन्ध में एक बात और।

सभ्य संसार का सदा से यह नियम रहा है कि जो जितना ही अधिक ऊँचा होता है, सीमा का बन्धन उस पर उतना ही कम लागू

होता है। यह नियम हर क्षेत्र में, हर एक विचारधारा में, एकसा रमा-जमा है। आज की सभ्यता के परिवर्तित मानदण्डों में इस नियम का महत्व और बढ़ गया है—बढ़ता ही जा रहा है। मैं व्यक्तिगत रूप से साहित्य के क्षेत्र में इस नियम का भक्त हूँ—और इसीलिए ललितकलाओं के इस उच्चतम अंग—नाटक—को प्राचीन ग्रन्थों में सँजोई आकार-प्रकार की सीमाओं में बाँधने के पक्ष में नहीं हूँ। नाटकों के निर्धारित तत्वों का 'फ्रेम' बनाकर किसी 'प्रख्यात कथानक' को तोड़-गलाकर जो काव्य का रूप ढाला जाता है उसे मैं नाटक नहीं, नाटक का कार्टून कहता हूँ। ये नाटकों के कार्टून पुरानी पिटी परिपाटी के हर बिन्दु को छूकर भी अपने आप में ही घुटते दिखते है। उनमें न जीवन की यथार्थता सम्भव है न जीवन की गति। वास्तव में जीवन से निकटता नाटक का सबसे बड़ा गुण है—और रंगमंच उसकी सबसे खरी कसौटी।

अपनी इन्हीं मान्यताओं को लिए मैंने सामाजिक जीवन के रास्ते छाने हैं, मोड़ों पर मैं रुका-मुड़ा हूँ और पगडंडी पर दौड़ा हूँ। राह के पथिक मुझे भाए, उनका पाथेय तक मैंने परखा। जाने कितने ऐसे मिले जिन्हें अपने समाज से कई तरह की शिकायतें है। कुछ ऐसे ही पथिक मिलती-जुलती, सम्बन्धित शिकायतें लिए यहाँ—इस नाटक में—एक साथ आ गए हैं।

विश्वविद्यालय, खैरागढ़
मध्यप्रदेश
गांधी जयन्ती, १९५९

कृष्णकिशोर श्रीवास्तव

इस नाटक के विषय में

१४ फरवरी, १९५८ के रेडियो सप्ताह के लिए यह लिखा गया था और आकाशवाणी, नागपुर से अभिनीत-प्रसारित हुआ था। उसके बाद जून १९५८ में ही नागपुर के कुछ कलाकारों ने हिमाचल थियेटर, शिमला में इसका प्रदर्शन कर प्रथम पुरस्कार पाया था। तब वह एकांकी था।

इन तीन अंकों का प्रथम सफल प्रदर्शन मई १९५९ में खैरागढ़ में हुआ। निम्नलिखित कलाकारों ने इसमें प्राण फूंके :—

मुरारीलाल — एस. एम. नवाब

अमरनाथ — जॉन लोबो

कोमलचन्द — शेखर मुकर्जी

घनसू — अलबन फ्रांसिस

सरिता — लता चौधरी

अचला — बैटी मान्ड्रेले

श्री शिवदुलारे वर्मा निर्देशक थे।

पात्र-परिचय

मुरारीलाल — एक महारोगी

अमरनाथ — मुरारीलाल का पुत्र

कोमलचन्द — एक तरुण व्यापारी

घनसू — मुरारीलाल का नौकर

सरिता — अमरनाथ की पत्नी

अचला — कोमलचन्द की होने वाली पत्नी

अंक १

[अमरनाथ के घर का बाहरी कमरा। इस कमरे की सजावट न तो भारतीय पद्धति वाली बैठक जैसी है और न पश्चिमी पद्धति वाले 'ड्राइंग रूम' जैसी। अमरनाथ अपने इस कमरे को ड्राइंग रूम मानता है पर उसके मेहमान, मित्र सभी इसे बैठक कहते हैं। कमरे के फर्श पर एक साधारण सी दरी बिछी है, बीच में गहरे पालिश में अपना पुरानापन छिपाती एक टेबल है जिसको कुछ कुर्सियाँ घेरे हैं। टेबल के पायों के नीचे कागज की पेकिंग दी गई है जिससे टेबल किसी भारतीय की आर्थिक स्थिति की तरह जरा से धक्के में डगमगाने न पाए। कमरे के एक कोने में हैट स्टैण्ड है जिसके आईने पर मिट्टी की पर्त के धब्बे है। हैट के नाम पर परतन्त्र भारत में खरीदा एक फेल्ट झूल रहा है। हैट के पास, कुचले साँप की तरह बलखाई एक टाई टँगी है। दूसरी ओर एक छोटा सा रेक रखा है। रेक में कुछ पुस्तकें पुस्तकालय विज्ञान को चुनौती दे रही हैं। कमरे की दीवारें साधारण हैं। दीवारों पर कुछ चित्र और कुछ भोंड़े कलेण्डर टँगे हैं। छत से सिर लगाए एक ओर एक पुरानी जापानी घड़ी दीवार पर लटकी-लटकी चल रही है। घड़ी का नेतानुमा पेण्डुलम वेमन से निरन्तर अपनी सीमाएँ नाप रहा है। घड़ी के दोनों काँटे दो रूठे प्रेमियों की तरह बारह की सीमा के दोनों ओर पड़े हैं —समय सवेरे के सवा आठ।

मुरारीलाल एक कुर्सी पर बैठे हैं। पैरों की चप्पलों में से उँगलियों में बँधी गंदी पट्टियाँ झाँक रही हैं। महारोग की

उपेक्षा में गली उनके हाथों की उँगलियाँ एक दूसरे की लज्जा ढाँकने के प्रयास में हैं—और मन किसी गहराई में।

अन्दर के दरवाजे पर अमरनाथ दिखाई देता है। उसके हाथ में एक सूटकेस है—पैरों में ठिठक और चेहरे पर झिझक। अमर के पीछे सरिता झलकती है। सरिता अमर को कमरे में जाने का संकेत करती है और उसके कंधे पर एक मीठी सी थपकी लगाकर अन्दर के रहस्य में लीन हो जाती है।

अमर कुछ क्षण मानसिक संघर्ष लिए यहाँ-वहाँ देखता है—फिर शीघ्रता से कमरे में प्रवेश करता है। आहट पाकर मुरारीलाल उसकी तरफ देखते हैं। पिता-पुत्र की आँखें स्नेह की डोर में बँध जाती हैं और अमर के हाथ से सूटकेस छूट जाता है।]

अमरनाथ—(भावुकता से) नहीं-नहीं, यह मुझसे नहीं होगा। (दौड़कर मुरारी के पैरों से लिपटता हुआ) पिताजी यह मैं कैसे कर सकूँगा ? कैसे कर सकूँगा पिताजी यह मैं ?

मुरारीलाल—(चौंककर अपने पैर बचाकर कुर्सी से उठते हुए) मैं—मैं—कुछ समझा नहीं बेटा। ये मेरा सूटकेस—और ये तुम्हारी बहकी-बहकी बातें—ये खिंची-खिंची भावनाएँ—मैं कुछ नहीं समझा। (रुककर) बेटा, मुझे बतलाओ तो तुम क्या नहीं कर सकोगे।

अमर—(तेजी से) पिताजी मैं एक भूल करने जा रहा था—अब भूल नहीं करूँगा (धीरे-धीरे रुकते हुए) भूल नहीं करूँगा।

मुरारी—(सरलता से हँसकर) भूल ! बेटा यही उमर तो भूल करने की है। हर उमर का एक अधिकार होता है—भूल तो इस उमर का अधिकार है बेटा। (रुककर)

हमारी उमर तो पुरानी भूलें गिनती है और तरसती है कि अब भूलें नहीं होती।

अमर—(बालक की सरलता से) पिताजी मेरी उमर भूल करने की है—और आपकी उमर भूल करने को तरसती है?

मुरारी—(स्नेह से) ऐसा ही समझो बेटा। पर हुआ क्या? कैसी भूल करने जा रहे थे तुम, मैं समझा नहीं।

अमर—आप न समझें तभी समझदार बने रह सकेंगे। (साँस लेकर) मैं तो समझकर, समझ खो बैठा हूँ।

मुरारी—तुम समझकर समझ खो बैठे हो और अपनी इस नासमझी में मुझे समझदारी का पाठ पढ़ाना चाहते हो। बेटा तुम अपनी बात कह जाओ। मेरी समझ पर विश्वास रखो। (रुककर) बुढ़ापे में आदमी हिम्मत खोता है, समझ नहीं।

अमर—मैं कैसे कहूँ—मैं नहीं जानता·····मैं क्या करूँ—कुछ नहीं सोच पाता।

मुरारी—(साहस दिलाते हुए) वो भूल कर जाओ जो करना चाहते थे—मेरी आज्ञा है।

अमर—आपकी आज्ञा—?

मुरारी—आज्ञा नहीं मानना चाहते तो इसे सलाह समझ लो।

अमर—(तेजी से रोकते हुए) पिताजी! मैं कैसे अपनी उलझन आपके सामने रखूँ। (रुककर) उलझन एक ऐसी पहेली बन गई है जिसे मैं नहीं सुलझा पा रहा हूँ। (मुरारी की ओर देखता है और आँख मिलते ही सिर झुका लेता है)

मुरारी—बेटा! जो तुम छिपा रहे हो वह तुम्हारी आँखें झिझक-झिझककर कह रही हैं।

अमर—(कुछ शंका से) क्या कह रही हैं मेरी आँखें ?

मुरारी—तुम्हारी कमजोरी की मजबूत कहानी ।

अमर—पिताजी, वह कमजोरी नहीं विवशता है ।

मुरारी—विवशता ! अमरनाथ, विवश वे होते हैं जिनके पास अधिकार नहीं होते । तुम्हारा तो दावा था कि इस घर की सारी चेतना पर केवल तुम्हारा ही अधिकार है । (रुककर) मेरा मन कहता है यह विवशता तुम्हारी किसी कमजोरी की ही देन है ।

अमर—(कुछ घबराकर) कोई कमजोरी नहीं है पिताजी ।

मुरारी—नहीं मानता मैं । (रुककर) हो सकता है तुम उसे कमजोरी न मानकर किसी सिद्धान्त का बाना पहिना दो, पर है वह कोई कमजोरी ।

अमर—पिताजी बात सिद्धान्त की ही है । सि—सि—द्धान्त से अधिक सामाजिक शिष्टाचार की है ।

मुरारी—सामाजिक शिष्टाचार ! अमर, शिष्टाचार व्यक्ति से शुरू होता है । (कुछ क्रोध से) मैं अपने प्रति इस घर के शिष्टाचार को देखकर सामाजिक शिष्टाचार की बात सोच सकता हूँ ।—ऊँ ! सिद्धान्त आजकल किताबों में कैद हो गये हैं बेटा !

अमर—पिताजी !

मुरारी—अमर ! मुरारीलाल उमर में बूढ़ा हुआ है, समझदारी में नहीं । (रुककर) मुझे यहाँ आए चौबीस घण्टे हो गए हैं—और बहू के दो भले शब्द भी नहीं सुनने को मिले । न प्रणाम, न अभिवादन, न दुख-सुख की चर्चा । किसी निकाले नौकर की तरह यहाँ नए हुक्म की राह

तक रहा हूँ। (अचानक रुककर) पर इसमें किसी का दोष नहीं। (भरे गले से) करूँ क्या, बिना आए मेरा ही मन नहीं माना। तुम्हारी माँ क्या मरीं अपनी सारी ममता मेरे दिल में जमा कर गई, वर्ना मैं आता ही क्यों ?

अमर—(अपराधी की तरह) पिताजी आप मेरी बात नहीं समझे।

मुरारी—बेटा ! मैं तुम्हारी बात तुम्हारी शादी के बाद ही समझ गया था इसीलिए शादी के दूसरे दिन ही तुमसे दूर चला गया था। (रुककर) मन नहीं माना इसलिए तुम्हारी शादी की इस पहिली वर्षगाँठ के लिए आ गया। तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ बेटा, मैं इसके बाद फिर चला जाऊँगा। (याचक की तरह) सच बेटा, चौबीस घण्टे के बाद मैं खुद चला जाऊँगा।

अमर—मै तो नहीं चाहता कि आप जाएँ। पर···पर (अचानक रुक जाता है)

मुरारी—पर बहू चाहती है। यही कहना चाहते हो न ? बेटा, मैं समझ गया हूँ—पर ममता का मारा हूँ इसीलिए द्वार पर पड़ा हूँ। (रुककर) बेटा, बहू को याद दिला दे कि अपनी सारी इच्छाएँ दबाकर मैंने तुम दोनों की शादी को आज्ञा दी थी—आज बहू अपनी इच्छा मेरे लिए···।

अमर—पिताजी, बात किसी की इच्छा की नहीं है, बात सामाजिक शिष्टाचार की है। (अटकते हुए) कल अपने घर पार्टी है—बहुत से लोग आएँगे—सरिता की सखियाँ

——और परिवार के लोग भी——उनमें से बहुतों ने आपको नहीं देखा ।

मुरारी——और यदि वे मुझे यहाँ देखेंगे तो उन्हें मुझसे घृणा हो जाएगी——तुमसे घृणा हो जाएगी——यही न ? (रुककर भरे गले से) आ बेटा, मेरा गला दबा दे——मैं और मेरे मन की ममता दोनों शान्त हो जाएँगे——और तेरी समस्या भी सुलझ जाएगी ।

अमर—पिताजी, ये आप क्या कह रहे हैं ! आप इतना नीच समझते हैं मुझे ! सोचिए तो, क्या आपका खून इतना बदल सकता है ?

मुरारी—बेटा, भरोसा तो नहीं होता मन को । पर ये आँखें, ये कान भी तो कुछ कहते हैं । कहाँ तक आँखों से आँखें चुराऊँ और कानों की ओर से कान बन्द करूँ । (रुककर) आजकल क्या नहीं बदलता बेटा । खून चाहे न बदले पर आदमी तो बदल जाता है ।

अमर—मैं आपको कैसे विश्वास दिलाऊँ !

मुरारी—विश्वास दिलाने से नहीं होता बेटा, विश्वास तो रोम-रोम से फूट पड़ता है । (भावुकता से) अमर, अगर मेरा विश्वास तोड़ दिया तूने, तो मैं हमेशा के लिए टूट जाऊँगा । (घूमते हुए धीरे-धीरे) पर सोचता हूँ कि मेरे टूटने पर भी मेरी ममता टूट पाएगी या नहीं ।

अमर—(तेजी से) पिताजी, यदि आप मेरी विवशता पूरी तरह समझ जाएँ तो आपके मन का सारा सन्देह दूर हो जाएगा । आप मेरी विवशता नहीं समझ रहे हैं ।

मुरारी—बेटा, हर एक यही समझता है कि दूसरा उसकी

विवशता नहीं समझता। (साँस लेकर) मेरा मन भी यही कहता है कि काश तू मेरी विवशता समझ पाता।

अमर—आपकी विवशता ?

मुरारी—हाँ बेटा। ममता आदमी की सबसे बड़ी विवशता है। ममता—समझे ? (धीरे-धीरे प्रस्थान)

अमर—(अपने आप, सिर झुकाए) ममता आदमी की सबसे बड़ी विवशता है। (ऊपर देखकर) पिताजी बात पूरी किए बिना ही चले गए। (साँस लेकर घूमते हुए) ममता आदमी की सबसे बड़ी विवशता है। (सरिता का प्रवेश) एं ! सरिता तुम कब आ गई ?

सरिता—जब आपने देखा।

अमर—जब (जोर देकर) मैंने देखा ! अच्छा ! कुछ सुना भी तुमने ?

सरिता—(लापरवाही से) मेरे सुनने या न सुनने से बात तो बदलेगी नहीं।

अमर—बात चाहे न बदले, पर बात बन तो जाएगी।

सरिता—(रूखी हँसी के साथ) बातें बनाने से बात नहीं बनती। (सूटकेस को देखकर) इसके साथ का रूमाल कहाँ है ?

अमर—रूमाल ? कैसा रूमाल ?

सरिता—जो मैंने आपको दिया था। भूल गए आप ? मैंने रूमाल देकर यह कहा था कि सूटकेस के हैंडिल को आप उस रूमाल से लपेटें तब उसे उठाएँ। (अमर को देखकर) आप इसे यों ही लाए हैं ?

अमर—(कुछ घबराकर) मैं रूमाल लपेटना भूल गया।

सरिता—(कुछ क्रोध से) हूँ ! तो अब जाइए और जाकर साबुन से हाथ धो डालिए।

अमर—(आश्चर्य से) हाथ ?

सरिता—(कुछ कड़े स्वर में) कितनी बार समझाऊँ आपको ! उसे पिताजी ने अपने हाथों से नहीं उठाया होगा ?

अमर—तो क्या हुआ ? वे तो पट्टियाँ बाँधे रहते हैं।

सरिता—इस बीमारी के कीड़े पट्टियों से नहीं बाँधे जा सकते। जाइए, पहले हाथ धो आइए, फिर आपसे बातें करूँगी। (अमर को देखकर) मैं कहती हूँ जाइए ! (पुकारकर) घनसू ! घनसू ! (अमर का प्रस्थान और घनसू का प्रवेश)

घनसू—(प्रवेश) जी, आ गया।

सरिता—देखो इस सूटकेस को बाहर पहुँचा दो।

घनसू—बाहर ?

सरिता—हाँ, पिताजी का है। और उनसे कह दो कि गाँव लौट जाने की तैयारी कर लें।

घनसू—मैं···कहूँ···उनसे गाँव जाने के लिए···?

सरिता—हाँ, तुम कहो।

घनसू—(घिघियाकर) बहूरानी आप जो सजा चाहें मुझे दें—पर ये काम मुझसे नहीं होगा। (भरे गले से) मालिक को नौकर घर छोड़ने का हुकुम कैसे देगा—बहूरानी ?

सरिता—(कुछ झुँझलाकर) अपने छोटे मालिक की तरह तुम भी कायर हो···क्योंकि इसी घर के हो। खैर जाओ इस सूटकेस को बाहर के बराँडे में रख आओ।

घनसू—जी (सूटकेस उठाने लगता है)

सरिता—(डाँटकर) बेवकूफ ! उसे हाथ से छू रहा है और

उसके बाद घर की हर चीज छुएगा और अपने बड़े मालिक का रोग हम लोगों को भी लगाएगा !

घनसू—फिर कैसे ले जाऊँ बहूरानी ?

सरिता—(यहाँ-वहाँ देखकर) मैं बतलाती हूँ । (स्टैण्ड पर से टाई निकालकर घनसू की ओर फेंकते हुए) इस टाई से बाँधकर बाहर रख आ । (व्यंग्य से) इससे अच्छी और कोई चीज इस काम के लिए नहीं है यहाँ ।

घनसू—ये तो अमर भैया की टाई है । इस टाई को एक बार हटाकर दूसरी जगह टाँग दिया था तो वे बहुत बिगड़े थे ।

सरिता—तुम पर बिगड़े होंगे । पर अभी तो मैं कह रही हूँ··· उन्हें जो कहना होगा मुझसे कहेंगे । मैं जो कह रही हूँ तुम अभी वो करो ।

घनसू—(सूटकेस के हैंडिल में टाई बाँधता हुआ) इस टाई को वापस लाकर यहीं टाँग दूँगा ।

सरिता—फिर वही बेवकूफी ! उस टाई को कौन बाँधेगा ? टाई को खोलकर बाहर फेंक देना या इसी सूटकेस में बँधी रहने देना । (अन्दर देखते हुए) जल्दी करो । (अमरनाथ का प्रवेश, सरिता मुँह घुमा लेती है, घनसू कुछ घबरा जाता है)

अमर—ये क्या हो रहा है घनसू ? मेरी टाई···और सूटकेस में···?

घनसू—टाई से बाँध इसे उठाऊँगा (उठाते हुए) यों, और बाहर रख आऊँगा ।

अमर—(क्रोध से) नालायक ! यह किसने कहा तुझसे ?

सरिता—(हँसकर) आपकी अपनी सरिता ने । जाओ घनसू, जल्दी करो ।

अमर—सूटकेस तो यों ही उठाया जा सकता है। मेरी टाई····

सरिता—कौन छुएगा उस सूटकेस को ?

अमर—फिर मैं उस टाई को कैसे बाँधूंगा ?

सरिता—आप जानते हैं कि मुझे आपकी इस टाई से चिढ़ है। मैं नहीं चाहती इसे आप बाँधें।

अमर—क्यों ?

सरिता—क्योंकि आपको वह मुझसे भी अधिक प्यारी है। (व्यंग्य भरी हँसी के साथ) मुझे उससे सौतिया डाह है। (कुछ जोर से) घनसू, ले जाओ—मुँह क्या देख रहे हो ?

घनसू—जी (सूटकेस लटकाए हुए प्रस्थान)

अमर—सरिता, कल अपनी शादी की पहिली वर्षगाँठ है और तुम इधर कुछ ऐसा रुख अपना रही हो कि दिखता है वर्षगाँठ गाँठ बनकर ही रह जाएगी।

सरिता—मै तो यह नहीं चाहती—पर क्या करूँ, आप मजबूर कर रहे हैं।

अमर—मैं मजबूर कर रहा हूँ ? (कुछ आश्चर्य और क्रोध से) मैं चाहता हूँ कि अपनी शादी की वर्षगाँठ मनहूसी और उलझनों में मनाई जाए ? (रुककर) सरिता, पता नहीं तुम यह कैसे सोच रही हो।

सरिता—यह विचार अचानक तो मेरे मन में आया नहीं। पिछले एक साल में मैंने जो देखा-सुना है उसे समझा है, उस पर विचार किया है। (रुककर) चाहती थी कि वर्षगाँठ शान्तिमय हो, पर आपने उस शान्ति को मिटाने के सामान पहिले से जुटा लिए हैं।

अमर—तुम गलत सोच रही हो सरिता।

सरिता—(जोर देकर) मैं ठीक सोच रही हूँ। मैंने आपसे साफ-साफ कहा था कि इस समय पिताजी न आएँ तो अच्छा है। पर आपने उन्हें बुला ही लिया।

अमर—(तेजी से) सरिता, मैंने उन्हें नहीं बुलाया—वे अपने आप आ गए हैं। (रुककर) आखिर उनके पास भी तो दिल है—बेटे के लिए स्नेह है।···सोचो सरिता, क्या प्रेम को, स्नेह को, ममता को बुलावे की जरूरत होती है।

सरिता—(बिगड़कर) मेरी कमजोरियों को मत कुरेदिए, नहीं तो शायद मुझमें इतनी ताकत आ जाएगी कि आप मेरा मुँह बन्द नहीं कर पाएँगे।

अमर—मैं तुम्हारा मुँह नहीं बन्द करना चाहता—क्योंकि मैं जानता हूँ कि मुँह बन्द कराकर भी मैं तुम्हारे मन के तूफान बन्द नहीं करा पाऊँगा। (रुककर, साँस छोड़ते हुए) सोचता हूँ कभी तो तूफान के बाद शान्ति होगी।

सरिता—(उसी तेजी से) शान्ति अपने आप नहीं होगी—शान्ति आपको लानी होगी।

अमर—सरिता, मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ—मेरी यह अशान्ति केवल शान्ति के लिए ही है। (रुककर) मैं समझता था कि विवाह के बाद हमारे प्रेम का शान्तिमय अध्याय शुरू होगा, पर जो न होना था हो रहा है।

सरिता—अपने आप कुछ नहीं हो रहा है—सब कुछ आप कर रहे हैं। न आपके संकोच रह गया है और न आपको सामाजिक आलोचना की ही चिंता है। मैं कहती हूँ कि समाज की उपेक्षा करना उतना सरल नहीं जितना आप सोच बैठे हैं।

अमर—मैं समाज की उपेक्षा तो नहीं करना चाहता। हाँ, समाज के थोथेपन पर आज पहिले से अधिक कहना चाहता हूँ—कहने का साहस भी रखता हूँ। (रुककर, धीरे-धीरे) साहस तो उस समय कम था जब तुमसे एक नहीं हुआ था।

सरिता—(आश्चर्य से) विवाह के पहिले आपमें कम साहस था ?

अमर—हाँ सरिता ! विवाह के पहिले तुमसे संकोच और सामाजिक आलोचना की आड़ में मिलता था। जब कोई तुम्हारे विषय में पूछता था तो उत्तर देने का साहस भी जैसे खो जाता था।

सरिता—वह साहस की कमी नहीं, शर्म की अधिकता होगी।

अमर—तुम अनुमान कर रही हो और मैं अनुभव कर रहा हूँ। मुझमें उस समय साहस कम था पर उसी थोड़े से साहस का सहारा लेकर मैंने पिताजी के काल्पनिक सुखों को लात मारी थी—(तेजी से) उनकी इच्छाओं को कुचलकर मैंने अपनी इच्छाएँ पूरी की थीं।

सरिता—(तेजी से) बस कीजिए ! आप तो इस तरह कहे जा रहे हैं जैसे मैंने कुछ किया हो नहीं। अगर मैंने अपने पिताजी की तबियत से शादी की होती तो आज किसी महल में रानी बनकर बैठती।

अमर—रानी तो तुम यहाँ भी हो। चाहो तो यह घर भी तुम्हें महल जैसा लग सकता है।

सरिता—ये भाव भरे शब्द साल भर से सुन रही हूँ। अब मन भर गया है। मैं जानती हूँ कि न मैं रानी हूँ, न ये महल

है। मन समझा लेती यदि इतना सन्तोष होता कि यहाँ मेरी बात रखी जाती है।

अमर—तुम्हारी हर बात तो रखता हूँ।

सरिता—हर बात आप नहीं रखते। कभी-कभी बेमन से मेरा मन रखने के लिए आपने मेरी कुछ बातें रखीं जरूर हैं। (रुककर) वे ही बातें जिनका विशेष महत्व नहीं।

अमर—सरिता, तुम सच्चाई पर अविश्वास कर रही हो।

सरिता—आपकी सच्चाई! यदि मैं आपके झूठ गिनाने लगूँ तो आप लाल-पीले हो जाएँगे। (रुककर) आपने अपने प्रेम का प्रारम्भ भी झूठ से किया था।

अमर—प्रेम का प्रारम्भ मैंने झूठ से किया था?

सरिता—जी हाँ! मुझे पता चल गया है कि पहिले आप अचला से प्रेम करते थे और उससे शादी भी करना चाहते थे। पर ज्योंही उसे आपके पिताजी की बीमारी का पता चला उसने शादी करने से नाहीं कर दी। आप निराश होकर मेरे पास आए थे। मैंने आपसे अचला के विषय में पूछा भी था पर आपने उस बात को उड़ा दिया था।

अमर—उन बातों में कोई महत्व नहीं था, सरिता।

सरिता—उन बातों में कोई महत्व हो या न हो, इस सत्य में तो महत्व है कि आपके पिता को एक भयानक रोग है। ऐसा रोग जिससे हर मनुष्य घृणा करता है और बचता है।

अमर—मैं उस घृणा करने वाले मनुष्य की सीमा में नहीं आता।

सरिता—आपके उस सीमा में न आने से समाज का रुख तो

बदलेगा नहीं। (रुककर) आपने पिताजी को बीमारी की बात मुझसे भी छिपाई थी। आपको याद है मैंने इस बात को जोर देकर पूछा भी था--और आपने साफ नाहीं कर दी थी।

अमर—मैं तुम्हें नहीं खोना चाहता था सरिता। चाहता था अपनापन पा जाऊँ।

सरिता—पर आप झूठ तो बोले थे।

अमर—सच बोलता तो जीवन झूठा हो जाता सरिता। पर उस झूठ से मैंने किसी का कुछ बिगाड़ा तो नहीं।

सरिता—आपने मेरा मन बिगाड़ दिया। यदि उस समय आप सच कह देते तो शायद आज मेरा यह मन इतना विद्रोह न करता। आपने प्रेम का बीज झूठ पर बोया, और झूठ से ही उसे बढ़ाया है। (रुककर) मैं इसीलिए विश्वास नहीं करती कि आपने पिताजी को नहीं बुलाया।

अमर—एक बार तो और विश्वास करो सरिता—मैंने पिताजी को नहीं बुलाया।

सरिता—नहीं बुलाया तो उनसे कह दीजिए कि अभी गाँव लौट जाएँ।

अमर—देखा तो तुमने, आया तो था इसीलिए—पर सरिता, उनकी आँखें देखते ही मेरी आँखें खुल गईं--और मुँह बन्द हो गया। मन की बात मन में रह गई। ओठों का कम्पन दिल की धड़कन बन गया--और मैं कुछ न कह पाया।

सरिता—मैंने सब कुछ सुना है। आपने कहने की कोशिश ही नहीं की।

अमर—मन बहुत कड़ा किया था पर उनके सामने आते ही मन को न मार सका। जो कहने आया था न कह पाया। (थककर) मैं तुम्हारे प्रेम से हारा, उनके स्नेह से दब गया।

सरिता—(सोचते हुए) शादी के पहिले एक बार आपने कहा था कि हार मानने का मतलब है जीवन हारना। अब आप ही सोचिए कि क्या हमें जीवन हारना है।

अमर—मैं क्या करूँ सरिता—मैं नहीं सोच पाता।

सरिता—सोच तो लिया था आपने, पर कर नहीं पा रहे हैं।

अमर—यही सोच लो।

सरिता—पर इस तरह समझने से काम नहीं चलेगा। किसी न किसी तरह पिताजी से यह कहना ही होगा कि वे कल सवेरे यहाँ न रहें।

अमर—मैं अपनी परीक्षा ले चुका सरिता, मुझमें यह कहने का साहस नहीं। मैं पिताजी से जाने के लिए नहीं कह सकूँगा। (भरे गले से) सरिता, माँ की गोद खोकर जिन हाथों पर झूला हूँ उन्हें किन हाथों बाहर करूँ!

सरिता—(चिढ़कर) ठीक है। तो आप अपनी भावनाएँ लिए बैठे रहिए। कल मेरे रिश्तेदारों को, मेरी सहेलियों को और आपके उन मित्रों को जिनसे आपने पिताजी के रोग को छिपाया है, आपके सत्य का पता चल जाएगा। पिताजी का महारोग आपके सत्य का महारोग बनकर आप पर हँसेगा।

अमर—तो हँसने दो—मैं उसकी चिन्ता नहीं करता।

सरिता—आप उसी की सबसे अधिक चिन्ता करते हैं। इसी-

लिए आप उन मित्रों को और मेरे रिश्तेदारों को इस समय नहीं बुलाना चाहते थे। (रुककर) ठीक है न? (व्यंग्य से) पर मैंने उन सबों को बुला लिया है।

अमर—(कुछ घबराकर) सबको बुला लिया है--क्यों?

सरिता—मेरी इच्छा।

अमर—तो--तो मैं पिताजी से कह दूँगा कि उन लोगों के बीच न जाएँ।

सरिता--आपके रोकने पर अब वे क्या रुकेंगे। (व्यंग्य से) आपको आशीर्वाद देने के लिए उनका स्नेह उन्हें सबके बीच खींच लाएगा। उनके बँधे हाथ और चेहरे पर के दाग आपकी चाल पर पानी फेर देंगे। लोग उत्साह से आएँगे और घृणा लिए लौट जाएँगे।

अमर--नहीं सरिता, ऐसा नहीं होगा। मै पिताजी से प्रार्थना करूँगा कि वे न आएँ।

सरिता--कल भी, आज ही की तरह, आप हार जाएँगे। जब पिताजी की गली उँगलियाँ देखकर लोग आप पर उँगलियाँ उठाएँगे, तब आपको अपने स्नेह की हीनता का आभास होगा।

अमर—सरिता! बस करो सरिता, बस करो! (भरे गले से) मैं चिल्ला-चिल्लाकर सबसे कह दूँगा कि मैं एक महारोगी का पुत्र हूँ--जिसे मेरे घर आना हो आए।

सरिता—मै जानती हूँ आप यह भी नहीं कह सकेंगे। जिसे प्रेम करते थे, जिसे विश्वास पर विश्वास दिलाया था, उसके सामने भी यह स्वीकार करते हुए आपकी जीभ लड़खड़ा गई थी। कल आपके मुँह पर फिर ताला लग

जाएगा । (अमर का थका सा चेहरा देखकर) आज ही पिताजी से कहना ठीक होगा ।

अमर—सरिता, मैं नहीं जानता था कि पिताजी के लिए मेरे मन में इतनी कमजोरी है ·····। मैं कैसे कह सकूँगा !

सरिता—कमजोरी कहाँ नहीं है ? आप पिताजी से अपनी कमजोरी ही स्वीकार कर लीजिए । (समझाकर) नहीं तो जानते हैं क्या होगा ? कल के बाद आप और मैं दोनों इस समाज से भी दूध की मक्खी की तरह निकाल कर फेंक दिए जाएँगे ।

अमर—कितने दिन छिपा पाएँगे हम लोग इतने बड़े सत्य को ! आज या कल बात तो सामने आएगी ।

सरिता—बात सामने लाने के लिए यह समय ठीक नहीं । (चालाकी से) और मैं तो चाहती हूँ कुछ दिन पिताजी को अलग ही रखिए और उनका इलाज कराइए । (कुछ खुशी से) इधर जब तक लोगों को पिताजी के रोग का पता चलेगा उधर तब तक वे ठीक हो जाएँगे । उनकी बीमारी हमारे लिए भी तो ठीक नहीं ।

अमर—(गंभीरता से) सरिता, सुझाव बहुत अच्छे हैं, किसी भी भाषण में शोभा दे सकते हैं, पर इनसे मेरी अभी की समस्या का समाधान नहीं हो सकता ।

सरिता—(चिढ़कर) समाधान हो सकता है पर आप समाधान नहीं चाहते । (अमर को देखकर) उनसे कह दीजिए कहीं चले जाएँ—बस !

अमर—वह तुम्हारे लिए समाधान है और मेरे लिए स्नेह की समाधि ।

सरिता—फिर पिताजी के इस स्नेह के साथ समाज की घृ
भी आपको अपनानी होगी ।

अमर—सरिता, चाहे समाज की घृणा से कुछ क्षणों के लि
बच भी जाऊँ पर इस सत्य से तो नहीं बच सकता
मैं उनका पुत्र हूँ । सिर पटकता हूँ इस सत्य पर अं
खुद टूटता हूँ—सत्य नहीं टूटता । (रुककर) न जाने कित
कितने तर्क मैंने मन ही मन किए पर स्नेह सारे तर्क क
देता है ।

सरिता—वह स्नेह तर्क काट सकता है, जीवन के दिन न
काट सकता । (रुककर) लोग कहते हैं कि इस रोग
कीटाणु होते हैं जो फैलते हैं । (व्यंग्य से) कहीं आप
मैं इस रोग की दबोच में आगए तो क्या आपका यह स्
हमारी दवा बन सकेगा ?

अमर—(अनमनेपन से) सरिता, कहीं ऐसा हो जाएगा तो ह
लोग पिताजी की मानसिक वेदना का अनुभव कर सकें

सरिता—(चिढ़कर) बस यही तो आप चाहते हैं—और यह
नहीं होने दूंगी । पिताजी को यहाँ से जाना ही होगा
(घूमते हुए) मैं समाज की आँखों में नहीं गिरना चाहती

अमर—और मेरी आँखों में·····?

सरिता—आपकी आँखों में वो गहराई नहीं रही जिसमें गि
से मैं डरूँ । मैं·····(अचानक घनसू का प्रवेश । सरिता
जाती है)

घनसू—(घबराकर दोनों को देखते हुए) भैया, आपको
सरकार बुला रहे हैं ।

सरिता—(चिढ़कर) क्यों बुला रहे हैं ?

घनसू—यह नहीं बतलाया।

सरिता—(उसी मुद्रा में अमर को देखकर) पर आपकी समझ में तो आ गया होगा कारण ?

अमर—यदि नहीं समझ पाऊँगा तो उन्हीं से पूछ लूँगा। (जाने लगता है)

सरिता—ठीक है। पर जब आप वहाँ जा ही रहे हैं तो अपनी बात भी कह दीजिएगा।

अमर—(कुछ घूमकर) सरिता, बात न बढ़ाओ तो अच्छा है।

सरिता—(कुछ चिढ़कर) आप बात न बिगाड़ें तो अच्छा है।

घनसू—(चालाकी से) भैया, आपको जल्दी बुलाया है।

सरिता—बत्तमीज बीच में बोलता है।

अमर—पिताजी की आज्ञा सुना रहा है वो।

सरिता—अच्छा ! नौकरों का भी साथ दिया जा रहा है ! (चिढ़कर) सब ओर महारोग है—किसी के शरीर को, किसी के मन को।

अमर—(क्रोध से) सरिता !

घनसू—(सामने आकर) भैया, आप जाइए, बड़े सरकार जल्दी बुला रहे हैं।

अमर—(साँस लेते हुए) जा रहा हूँ। (सरिता को क्रोध से देखते हुए प्रस्थान)

सरिता—(कड़े स्वर में) घनसू, पिताजी ने इन्हें क्यों बुलाया है ? सच-सच बतला।

घनसू—मुझसे कुछ नहीं कहा मालकिन। जब मैं गया तो चुपचाप टूटी वाली कुर्सी पर बैठे थे। मैंने सूटकेस पास में

रख दिया। वे सूटकेस को कुछ देर चुपचाप देखते रहे और फिर भैया को बुलाने के लिए कहा।

सरिता—हूँ ! सूटकेस में बँधी टाई देखी ?

घनसू—जी ! उसे हाथ में लेकर ही बैठे थे, जब मैं आया।

सरिता—अब तो वह और किसी काम की नहीं रही। (मोटर का हार्न सुनाई देता है) अचला की मोटर है क्या ? देख तो खिड़की से।

घनसू—(खिड़की से देखता हुआ) जी—उन्हीं की है। मोटर से उतरकर वे अपने ही घर आ रही हैं।

सरिता—(अन्दर घूमते हुए) मैं उससे नहीं मिलना चाहती। यहाँ आए तो लौटा देना।

घनसू—उन्हें लौटा दूंगा—घर आए को—लौटा दूँगा—

सरिता—(चिढ़कर जाते हुए) मुझे तेरे उपदेश नहीं चाहिए। अपने दोनों सरकारों को उपदेश दिया कर। (अन्दर जाते हुए) अचला से कह देना मेरी तबियत ठीक नहीं। मैं किसी से नहीं मिल सकती। (प्रस्थान)

(घनसू कुछ क्षणों खोया सा खड़ा रहता है। फिर तेजी से दूसरे दरवाजे में चल देता है। और पर्दा गिरता है।)

अंक २

[अमरनाथ के घर का वही बाहरी कमरा। वही दिन। घड़ी में चार बजने वाले हैं। कमरा सवेरे की अपेक्षा कुछ अस्त-व्यस्त है। घनसू कमरे की चीजें सुधार रहा है और सरिता एक ओर खड़ी उस पर बिगड़ रही है।]

सरिता—(क्रोध से) मैंने कहा न कि जो चीज जैसी है वैसी ही रहने दो।

घनसू—बिखरा कमरा अच्छा नहीं मालूम होता।

सरिता—मुझे ऐसा ही अच्छा लगता है।

घनसू—पर दूसरों को तो अच्छा नहीं लगता। (रुककर) अभी अचला दीदी आ रही हैं—

सरिता—(चौंककर) अचला आ रही है? मैंने तो सवेरे ही कह दिया था कि मैं उससे नहीं मिलूँगी।

घनसू—आपने तो तभी के लिए कहा था, अभी के लिए नहीं। अभी पाँच मिनट पहिले मुझे फाटक पर मिली थीं—कहने लगीं कि मोटर में तेल भराकर यहीं आएँगी।

सरिता—(घूमते हुए) तो उससे फिर कह देना कि मेरी तबियत ठीक नहीं है। (झटकते हुए)···नहीं···तो···कह देना···कि कल की तैयारी में लगी हूँ···फुरसत नहीं है···समझे? कह देना फुरसत नहीं है।

अचला—(प्रवेश करते हुए) तो मुझसे ही कह दो कि फुरसत नहीं है। (हँसकर) मैं खुद हाजिर हो गई।

सरिता—(गड़बड़ाकर) अ···चला···बात···ये है...कि बात···

अचला—(हँसकर) कि बात बनाने की भी फुरसत नहीं है।

सरिता (सँभलते हुए)—ये बात नहीं। कल हमारी शादी की सालगिरह है न—उसी की तैयारी करना है।

अचला—ये तो मुझे मालूम है। तुम्हें याद होगा कि मैंने भी नाहीं भेज दी थी—यही फुरसत वाला बहाना लेकर—पर आज एडवांस में आ गई हूँ।

सरिता—हूँ। इसका कोई विशेष कारण है क्या ?

अचला—कारण तो है। (घनसू को देखकर रुक जाती है)

सरिता—(घनसू से) तू खड़ा-खड़ा क्या बातें सुन रहा है ? जा चाय बना।

घनसू—चाय तो बनकर खतम भी हो गई···(सरिता का चेहरा देखकर)···यहाँ के लिए दूसरी चाय बना लाता हूँ। (प्रस्थान)

सरिता—अब कहो क्या कहना चाहती थीं। थोड़े में कह डालो।

अचला—मैं पूरी बात कहूँगी—क्योंकि मुझे अधूरी बात—नहीं भाती।

सरिता—और बात पूरी हो जाती है तो मुझे ऐसा लगता है कि उसमें कुछ नहीं था—इसलिए मैं हर बात, हर चीज अधूरी छोड़ देती हूँ।

अचला—खैर तुम अपने मन की करना—मुझे अपने मन की करने दो। (रुककर) सरिता, मैं जिन्दगी की सबसे खूबसूरत बेवकूफी करने जा रही हूँ।

सरिता—(कुछ आश्चर्य से) खूबसूरत बेवकूफी !

अचला——हाँ, जो तुम कर चुकी हो। और तुमसे पूरे एक साल बाद मैं करूँगी।

सरिता——(अटकते हुए) याने तुम···शा···दी···!

अचला——(तपाक से) हाँ, सरिता, मैं शादी कर रही हूँ। मैं कल शादी कर रही हूँ। ठीक उसी तरह जिस तरह तुमने की थी (कुछ ऐंठ से) अपनी तबियत से।

सरिता——(अनमने भाव से) अपनी तबियत से···(साँस लेकर) शायद तुम्हें भी पछताना पड़े।

अचला——मैं क्यों पछताऊँगी ? (रुककर) शायद तुम पछता रही हो। है न ?

सरिता——(छिपाते हुए) न···नहीं ऐसी तो कोई बात नहीं। काम करने के बाद सोचने पर पछतावा होता है, काम करने के पहिले सोचने पर पछतावा नहीं होता। (साँस लेकर) मैंने जो किया था सोचकर ही किया था।

अचला——तुम जो भी सोचो, मैं तो जब कोई काम नहीं कर पाती तभी पछताती हूँ——काम करने के बाद मैंने कभी पछतावा नहीं किया। सोचने-विचारने पर मेरा ज्यादा भरोसा नहीं (हँसकर) क्योंकि सोचने-विचारने को मैं दिमागी बेवकूफी मानती हूँ।

सरिता——(कुछ अनमने भाव से) किससे कर रही हो शादी ?

अचला——(उसी मस्ती में) पहिले वादा करो कि नाम सुनकर चौंकोगी तो नहीं।

सरिता——कोई ऐसा नाम है क्या ?

अचला——(सिर हिलाकर मुस्कराती हुई) हूँ। कोमलचन्द।

सरिता——(कुछ आश्चर्य से) कोमलचन्द !

अचला—मैं जानती थी कि तुम नाम सुनकर चौंक पड़ोगी। (हँसकर) सरिता, इसमें दोष तुम्हारा नहीं—कोमलचन्द के नाम में कुछ ऐसी ताकत है कि जो सुनता है, चौंक पड़ता है—उसके रूप में वो तेज है कि जो देखता है, चकाचौंध हो जाता है। (और हँसकर) समझीं ?

सरिता—(समझते हुए) कोमलचन्द अपने कपड़े वाले अग्रवाल के···?

अचला—बस बस, उन्हीं रईस कपड़े वाले अग्रवाल के एकलौते कोमलचन्द से मैं शादी कर रही हूँ। अभी तो उसी के साथ उसी की नई कार में आई हूँ। (कुछ रुककर) सरिता, नई कार, नई बात, नया साथी ··नया वातावरण···और नये अनुभव···(हँसकर) पुरानी दुनिया में सब कुछ नया।

सरिता—यह तो एक पहलू है अचला।

अचला—छोटी सी जिन्दगी में मैं समझती हूँ एक ही पहलू बहुत है। दूसरा पहलू दूसरे जन्म के लिए रख छोड़ा है मैंने।

सरिता—(बनावटी गम्भीरता से) ज्ञानियों का कहना है···

अचला—(बीच में) ज्ञानियों का कहना तब माना जाए जब ज्ञानी मिलें। यहाँ तो हमें जो अज्ञानी कहते हैं वे मुझे अपने से अधिक अज्ञानी मालूम होते हैं। (हँसकर) कोमल का कहना है कि ज्ञान हर दूकान पर अलग-अलग रंगों में बिकता है। एक दूकान का ज्ञान दूसरी दूकान का अज्ञान है। (रुककर, मुस्कराते हुए) अगर तुम्हें ज्ञानी मिलें तो तुम उनकी बात अवश्य मानना—मैं लड़ने नहीं आऊँगी।

सरिता—मैं कोई शिक्षा तो नहीं दे रही हूँ, जो सुनती आई हूँ वही दोहराने जा रही थी। पर तुमने निश्चय कर ही लिया है तो मैं विरोध नहीं करना चाहती। निश्चय करने के पहले तुमने कोमलचन्द के विषय में सभी कुछ पता तो लगा ही लिया होगा।

अचला—कोमलचन्द के पास रहस्य नाम की कोई चीज नहीं। (अहं से) केवल कम पढ़ा है, सभी जानते हैं। उसके घर के लोग पिछड़े और जंगली हैं—यह भी मैं जानती हूँ। पर सरिता, मुझे यह विश्वास भी है कि मै उसके घर में राज करूँगी।

सरिता—हाँ, यह तो सच है। तुम्हारा उस घर की हर चीज पर राज होगा। सभी तुम्हें सर पर उठाएँगे। (अचानक रुककर) अचला, राज पाने के लिए कुछ तो बलिदान करना ही होता है। तुम्हारा निश्चय छोटे बलिदान का रूप ही तो है।

अचला—होगा। पर एक बात और सरिता। कोमल का बाप भला आदमी है। यों चाहे नेता लोग बाहर उसे गाली दें, पर सब चुपचाप चन्दा लेने उसी के पास आते हैं। शहर के सब बड़े-बड़े ऑफीसर उसके घर के निमन्त्रण की राह देखते हैं। समाज में उसकी बड़ी इज्जत है, मान है। सभी जानते हैं कि वह यहाँ-वहाँ सभापति बनाया जाता है और उसका भाषण लिखकर देने के लिए अपने ही शहर के चार-छह लेखक दरवाजे पर रोज खड़े रहते हैं।

सरिता—(अनमने भाव से) हूँ।

अचला—हूँ नहीं, सच कह रही हूँ। चुनाव की बात आते ही

मिनिस्टर तक बुलाकर हाथ मिलाते हैं और गले लगाते हैं। (हँसकर) मैं ऐसे आदमी की बहू बनूँगी। मेरा भी मान होगा, मेरी भी शान होगी। कुछ बहुओं की तरह मैं भी पुरस्कार बाँटने जाऊँगी।

सरिता—तुम्हारी शान और तुम्हारा मान देखकर मुझे प्रसन्नता होगी।

अचला—तुमने इतना कह दिया मुझे प्रसन्नता हो गई। (यहाँ-वहाँ देखकर) तुम्हारे सरकार अमर कहाँ गए·····चाहती हूँ उन्हें भी सन्देशा दे दूँ। (सरिता की आँखों से आँखें मिलाकर) आज्ञा है, उनसे मिल लूँ ?

सरिता—(कुछ चिढ़कर) कितनी बार पूछा है—जो अब पूछ रही हो। (भाव बदलकर) मैं कौन हूँ रोकने वाली। जरूर मिलो।

अचला—(गम्भीर बनते हुए) भई, यों चिढ़कर नहीं। (हँसकर) दुलार से, जरा अपने पुराने लहजे में कह (रुककर, अभिनय करते हुए)—मिल न ले ! (जोर से हँस पड़ती है)

सरिता—(क्रोध दबाते हुए) मैंने कहा न, मिल लो। (रुककर) पर अभी वे अपने पिताजी के साथ हैं।

अचला—(कुछ आश्चर्य से) याने अमर के पिताजी यहीं हैं ! सुना था कहीं चले गए हैं, इलाज कराने।

सरिता—(टालते हुए) कल आए हैं, कल के लिए।

अचला—(व्यंग्य से) ओ ! कल के कार्यक्रम की शोभा बढ़ाने आए हैं।

सरिता—(तेजी से) ये तो बुलाने वाले से पूछ लेना—मैं नहीं जानती।

अचला—तो अमर ने बुलाया है। (हँसकर) अच्छा है, एक तीर में दो शिकार—एक ओर पिता के स्नेह का बहाना दूसरी ओर मेहमानों से छुटकारा।

सरिता—(आश्चर्य से) मेहमानों से छुटकारा !

अचला—और क्या। यदि लोगों को पता लग जाएगा कि अमर के पिता यहाँ हैं तो आएगा कौन ? सरिता, तुम्हीं सोचो तुम्हारे बुलावे के संकोच में पड़कर महारोगी के दर्शन कौन कर सकेगा—(हँसकर) मैं कहती हूँ, खर्च बचकर रहेगा।

सरिता—(क्रोध से) अचला !

अचला—भई, सच तो कड़ुआ होता ही है। कुछ लोग बात को घुमाकर कहते हैं—पर मुझे तो सच कहने का ढंग सचमुच नहीं आता। (चलते हुए) तो उन्हें वहीं बैठने दो, मैं चलती हूँ। अगर अधिक देर रुकी तो शायद मुँह से कुछ और निकल जाए।

सरिता—(बनावटी शिष्टाचार से) चाय तो पीती जाओ। कल तो तुम आओगी ही नहीं—आज ही सही···। और शायद चाय पीने पर मुँह के शब्द मुँह में ही घुल जाएँ।

अचला—(हँसकर) चाय के नाम पर चुप रहने की रिश्वत दे रही हो। (रुककर) रिश्वत तो मैं ले सकती हूँ—क्योंकि आजकल यह तो आम रिवाज हो गया है—पर अभी नहीं, फिर। मुझे देर हो रही है—कोमल कार में अकेला मेरी राह देख रहा होगा।

सरिता—तो उन्हें भी बुला लो। (प्रसन्न होने का प्रयत्न करते हुए) मेरी शादी की सालगिरह का और अपनी शादी का रिहर्सल एक साथ कर डालो।

अचला—सरिता, रिहर्सल की आवश्यकता वहाँ होती है जहाँ चीज दूसरे के लिए तैयार की जाए—शादी तो मैं अपने लिए कर रही हूँ।

सरिता—(हारकर) खैर जो समझो—पर चाय पीकर ही जाओ —(घनसू का चाय लिए हुए प्रवेश) लो चाय आ भी गई। (घनसू चाय अचला और फिर सरिता की ओर बढ़ाता है)

अचला—(चाय लेते हुए) अब चाय आ ही गई है तो ओठ भिगोकर गला सेक ही लेती हूँ—पर देखो घनसू और कुछ मत लाना। मैं खाऊँगी नहीं कुछ—सरिता की चाह के नाम पर यह चाय ही काफी है।

सरिता—क्यों ?

अचला—(हँसकर) मेरा अनुभव है कि जब पेट बहुत भर जाता है तब दिमाग खाली हो जाता है। (रुककर) अभी मुझे दिमाग से काम लेना है। मेरे पिताजी कहते हैं कि शादी के बाद मर्दों का दिमाग कमजोर और औरतों का दिमाग तेज हो जाता है। मुझे अपने पिताजी की बात भी सही साबित करनी है। (हँस पड़ती है)

सरिता—(घनसू को जाने का इशारा करती है। घनसू का प्रस्थान) अचला, मेरा अनुभव तुम्हारे पिताजी की बात का साथ नहीं दे सकता।

अचला—(चालाकी से) क्यों ? मैं तो समझ रही थी कि तुम तपाक से इस सूत्र को गले लगा लोगी—पर तुम तो कुछ और ही कह रही हो। (चाय पीते हुए) अमर में अब तक दिमाग नाम की कोई चीज बची होगी—भई, मैं तो नहीं सोच पाती। (हँस पड़ती है)

सरिता—तुम अनुमान कर रही हो—मैं अनुभव कर रही हूँ ; एक सुखद स्वप्न—दूसरा कठोर सत्य ।

अचला—तो सरिता, तुम समझ लो कि अमर के पीछे उसके पिता का दिमाग है । मैं तो बहुत दिनों से जानती हूँ । (घृणा से) उस बूढ़े के दिमाग में कभी अच्छी बात आती ही नहीं—और इसीलिए भुगत रहा है । महारोग पापियों को ही तो होता है । कहा भी है—स्वर्ग नर्क सब यहीं है ।

सरिता—(कुछ बिगड़कर) अचला, कुछ और बातें करो । मुझे यह अच्छा नहीं लगता ।

अचला—(प्याला रखते हुए) खैर, तुम्हें अच्छी लगने वाली बातें फिर करूँगी, अभी चलती हूँ । अमर तक तुम्हीं मेरा नमस्ते पहुँचा देना । (उठती है । साथ में सरिता भी खड़ी हो जाती है । सरिता के हाथ में प्याला अभी भी है) अरे एक चीज तो भूल ही गई । तुम्हें एक कीमती चीज देना है । (अपना बेग खोलती है)

सरिता—(चाय का प्याला मुंह से लगाती हुई) मुझे कुछ देना है ?

अचला—हाँ ! शादी की सालगिरह की खुशी में—कुछ याद रखने लायक । (बेग से निकालते हुए) ये एक फोटो ।

सरिता—(फोटो हाथ में लेते हुए) फोटो—कैसा फोटो—किसका—(फोटो देखते ही उसके हाथ का प्याला गिर जाता है । वह क्रोध से फोटो जमीन पर पटक देती है । क्रोध से) अचला, तुम इतनी नीच हो, मुझे इसका अन्दाज नहीं था ।

अचला—(मुस्कराते हुए) इसमें नीचता की कौनसी बात है ? तुम्हें तो मेरी प्रशंसा करना चाहिए कि मैं अपनी जिन्दगी का नया पाठ शुरू कर रही हूँ और यह कोशिश कर

रही हूँ कि जिन्दगी के पुराने पाठ की हर चीज भूल जाऊँ।

सरिता—(क्रोध से) तुम अपना गला बचाने के लिए मेरे गले में फाँसी लगा रही हो। (एक ओर से अमर का प्रवेश) तुम कोशिश कर रही हो कि रोशनी करो तुम और जलूँ मैं···

अमर—(बीच में आते हुए) क्या बात है सरिता···(सरिता और फिर अचला को देखता है)

सरिता—(क्रोध से) इन्हीं से पूछिए। सच बोलना सिर्फ इन्हें ही आता है। (तेजी से प्रस्थान। अमर ठगा सा खड़ा रह जाता है)

अमर—(सँभलते हुए) मैं कुछ समझा नहीं। आखिर बात क्या है ?

अचला—(जमीन पर पड़ा फोटो उठाते हुए) बात छोटी सी है··· बस इतनी सी। (अमर के आगे फोटो बढ़ाती है)

अमर—(फोटो लेते हुए) ये···ये···फोटो ! ये तो हम दोनों का फोटो है···जो हमने···(अचानक रुक जाता है)

अचला—आगे कहिए। ये फोटो हमने उस दिन उतराया था जिस दिन प्रेम की कसमें खाई थीं। ये उस दिन की यादगार है जिस दिन हमने एक होने का वचन एक दूसरे को दिया था।

अमर—(गम्भीर होकर) याद है मुझे। पर अचला, कसम खाकर कहो कि उन कसमों को किसने तोड़ा, उस वचन को किसने भंग किया।

अचला—(बनकर) शायद भाग्य ने।

अमर—(तेजी से) तो फिर वह भाग्य तुम ही हो। तुम्हीं ने सारी बात खतम की।

अचला—पर उसका कारण था—तुम जानते हो। (रुककर) तुम मेरा स्वभाव भी जानते हो। सोचो, तुमसे शादी करने के बाद मेरा क्या होता, क्या इज्जत रहती समाज में। जहाँ जाती, लोग कहते कि एक महारोगी के घर की बहू है—कहते·····।

अमर—(व्याकुल होकर) बस करो अचला। (थके स्वर में) मैं सुनते-सुनते थक गया हूँ।

अचला—तुम्हारे थक जाने पर भी कहने वाले नहीं थकेंगे। अमर, तुम्हारे हार जाने पर भी जीतने वाले शान्त नहीं होंगे। (रुककर) यों मैं सब कुछ बिना सोचे कह जाती हूँ पर इस बात को मैंने भी सोचा है।

अमर—केवल अपने ही लिए सोचा···।

अचला—तुम मेरी कमजोरी सदा से जानते हो—मैं अगर सोचती भी हूँ तो दूसरे के लिए सोच ही नहीं सकती। (दृढ़ स्वर में) मैं चलने के पहिले रास्ता समझ लेती हूँ।

अमर—रास्ता तो एक ही था हमारा। उस रास्ते पर तुम्हारे साथ आया—तुम्हारा साहस लेकर आगे बढ़ा···उसके मोड़ों पर कितनी बार डगमगाया, यह भी तुम जानती हो। (रुककर) तुमने फिर अपने विषय में सोचा और मुझे एक मोड़ पर छोड़कर तुम मुझसे दूर चली गई। मैंने सोचा···रास्ता छोड़कर पगडंडी से जाऊँगा···मंजिल तक तो पहुँचना ही था···पर··· (साँस लेकर रुक जाता है)

अचला—पर क्या हुआ अमर ?

अमर—पर दिखता है रास्ते के मोड़ों से अधिक उलझनें पगडंडी में हैं।

अचला—किसी बनी बनाई पगडंडी से जाते तो उलझनें न आतीं।

अमर—अचला, चाहता था कि पुरानी लीक न पीटूँ—(तेजी से) चाहता था जहाँ चल जाऊँ पगडंडी बन जाए पर (हारकर) जो चाहता था न हो पाया। अब तो चाह मौत की राह सी लगने लगी है।

अचला—इसमें थोड़ी सी भूल तुम्हारी है अमर।

अमर—भूल ?

अचला—और क्या ! पगडंडी पर चलने के पहिले तुमने भी सारी बातें नहीं सोचीं। (रुककर) सरिता को अपने पिता के रोग के विषय में बतला देना था।

अमर—अचला, मैं कह चुका न कि जिस रास्ते पर ठगा गया था उस पर मैं नहीं जाना चाहता था। (रुककर) मैं डरता था कहीं सरिता भी अचला न बन जाए····· (सँभलकर) खैर, भाग्यवादी पिता का बेटा हूँ—उलझनें आई हैं तो जूझूँगा। (रुककर) तुम इन उलझनों को कम करने के बदले बढ़ाओ मत, यही चाहता हूँ।

अचला—मैं उलझनें बढ़ा रही हूँ ?

अमर—और क्या ! ये फोटो—इसी का प्रमाण तो है। मैं नहीं सोच पाता तुम्हें यह सूझा कैसे ? और उस पर यह फोटो सरिता को देने आईं !

अचला—इसका कारण है।

अमर—इसके लिए भी कारण है ?

अचला—हूँ ! मैं चाहती थी कि अपने जीवन का नया पाठ शुरू करने के पहिले पुराने पाठ को पूरी तरह भूल जाऊँ।

अमर—यान ?

अचला—मैं शादी कर रही हूँ अमर। कल—उसी दिन, जिस दिन तुम्हारी शादी हुई थी।

अमर—पर एक साल बाद।

अचला—हूँ ! वो इसलिए कि मैं तुम्हारे पीछे चलना चाहती हूँ। (रुककर, मुस्कराते हुए) पीछे चलने वाले रास्ता नहीं भूलते। मैं पीछे ही खुश रहूँगी।

अमर—(साँस लेकर) पीछे रहकर मेरी भूलें देखोगी—और उन पर हँस सकोगी। (रुककर) अच्छा, उसके बाद तुम खुश रह सको तो मुझे सन्तोष होगा। (हँसने का प्रयत्न करते हुए) मेरी बधाई अचला—मेरी शुभकामनाएँ।

अचला—(मस्ती से) आओगे नहीं कल ?

अमर—कुछ नहीं कह सकता।

अचला—यों कहो, कहना नहीं चाहते। हाँ मैं सरिता और न मैं अचला का डर है। (हँस पड़ती है) पर मैं चाहती हूँ कि तुम जरूर आओ—सरिता को मैं मना लूँगी।

अमर—(सूखी हँसी के साथ) तुम उसे मना लोगी। (रुककर) और यदि मैं मना करूँ तो·····?

अचला—तो मैं अपना मन मनाकर मनाने का इरादा छोड़ दूँगी—(मुस्कराकर) ठीक है न। पर बातों में भुलाओ मत—आना जरूर। (सोचते हुए) उसी टाई को बाँधकर आना जो मैं लाई थी।

अमर—(हैट स्टैण्ड की ओर देखकर सिर झुका लेता है) तुम्हारी दी टाई·····अ···अचला उसमें गाँठ पड़ गई है।

अचला—टाई में गाँठ ! कोई नए पहिनने वाले तो हो नहीं

तुम। कैसे पड़ गई गाँठ ? और फिर ऐसी कौनसी गाँठ है जो खुलेगी ही नहीं ?

अमर—अगर गाँठ खुल गई तो जरूर आऊँगा। (बात बदलते हुए) और हाँ, ये तो मैंने पूछा ही नहीं कि कौन है वह भाग्यवान···।

अचला—अभी परसों ही तय किया है मैंने, इसलिए तुम्हें बता नहीं पाई। (लापरवाही से) अपना कोमलचन्द अग्रवाल।

अमर—(शब्दों को घसीटते हुए) को ··म···ल···।

अचला—(हँसकर) बिलकुल कोमल। जैसा नाम वैसा ही स्वभाव।

अमर—इतनी जल्दी उसके स्वभाव का पता कैसे चल गया ?

अचला—स्वभाव और चरित्र अलग-अलग हैं—ये तो मानते हो न तुम ?

अमर—मानता हूँ।

अचला—चरित्र तो वर्षों में भी समझ में नहीं आता, पर स्वभाव तो एक मुलाकात में पहिचाना जा सकता है—यह मेरा विश्वास है। (रुककर) मुझे स्वभाव से ही मतलब है।

अमर—और चरित्र से नहीं ?

अचला—जैसा कि तुम जानते हो, अमर—मैंने चरित्र को कभी स्थाई चीज नहीं माना। कल का चरित्र आज कितनी जगह मिलता है—फिर आज का चरित्र कल कितनी जगह मिलेगा—न मैं कह सकती हूँ न तुम। (हँसकर) चरित्र पहाड़ी नदी की धार है जो एकसी नहीं रहती और अचला अचल चीजों पर ही भरोसा रखती है।

अमर—पर कोमल के अपने भी तो कुछ विचार होंगे।

अचला—हैं क्यों नहीं ··मेरे लायक (चालाकी से)—पर तुमसे अलग।

अमर—इस तुलना का कोई प्रमाण है तुम्हारे पास ?

अचला—हूँ। कोमल मेरे जीवन के हर रहस्य जानता है। (रुककर) मैंने ही उसे सब कुछ बतलाया है। (अमर को देखकर) तुम्हारे प्रेम के विषय में भी, पर इसके बाद भी वह मुझसे शादी करना चाहता है। तुम ऐसा नहीं कर सकते। (रुककर, व्यंग्य से) ठीक है न ?

अमर—सच है अचला, शायद मैं ऐसा न कर सकता। (रुककर) पर मैं उन्हें बड़ा मानता हूँ जो ऐसा कर लेते हैं। (भावुकता से) आज की दुनिया में प्रेम एक नाटक बनकर रह गया है। एक व्यक्ति कई बार कई तरह के अभिनय कर सकता है।

अचला—उन अभिनय करने वालों से तुम्हें चिढ़ तो नहीं !

अमर—(व्यंग्य से) तुम्हारी तरफ देखकर कैसे कह सकता हूँ कि उनसे चिढ़ता हूँ।

अचला—(हँसकर) और अपनी तरफ देखना ही नहीं चाहते।

अमर—अपनी ओर देखने पर भी तो तुम्हीं दिखाई देती हो।

अचला—अच्छा ! और सरिता की तरफ देखकर ?

अमर—(चौंककर) सरिता की तरफ देखकर ?·····मैं समझा नहीं।

अचला—(दृढ़ता से) अमर, आज की दुनिया में मैं या तुम या हम जैसे और, क्या दिल पर हाथ रखकर यह कहने का दावा कर सकते हैं कि उन्होंने प्रेम का नाटक कभी

नहीं रचाया ? सिद्धान्तों की बात तो सभी कर सकते हैं। तुमने भी उस पर भाषण दिए हैं—और मैंने भी·····पर सच हम लोग तो जानते हैं।

अमर—(अटकते हुए) तुम्हारा मतलब····

अचला—मेरा मतलब साफ है। सरिता भी इस नाटक से दूर नहीं है।

अमर—(चिल्लाकर) अचला !

अचला—तुम्हारे चिल्लाने से सत्य का स्वर नहीं दबेगा अमर। सरिता भी हममें से ही एक है। अन्तर यही है—कुछ का नाटक स्टेज पर आ गया है और (हँसकर) कुछ का अभी ग्रीन रूम में ही है।

अमर—(क्रोध से) अचला, तुम्हें साफ-साफ बतलाना होगा।

अचला—मुझ पर क्रोध करने से यदि वह सत्य बदल जाए तो चाहूँगी तुम मुझ पर और बिगड़ो। (रुककर) अमर, तुम घाट के पत्थर हो—सरिता की धार छू सकते हो, उसके साथ बह नहीं सकते।

अमर—अचला ! मुझे बतला दो वह कौन है।

अचला—मैं यह पाप अपने सिर नहीं लेना चाहती। (रुककर) सरिता ने कल के लिए मेहमान बुलवाए हैं—शायद उनमें वह भी आए।

अमर—मेहमान···कल के लिए···। पर पिताजी के रहते हुए मेहमान आएँगे··· ?

अचला—तो पिताजी को कहीं भेज दो—सरिता भी तो यही चाहती है। फिर तो मेहमान आएँगे और तुम्हें अपने प्रश्न का उत्तर मिल जाएगा।

अमर—(अनमने भाव से) पिताजी को कहीं भेज दूँ·····उनसे जाने के लिए कह दूँ···नहीं नहीं, अचला, मैं नहीं कर सकूँगा।

अचला—(घूमते हुए) तो सरिता के नाटक का नायक भी तुम्हें नहीं मिलेगा। अच्छा अब मैं चलूँ। फिर एक बार प्रार्थना किए जाती हूँ कि कल आना।

अमर—कुछ देर और रुको अचला, मन भारी हो रहा है।

अचला—(हँसकर) मुझे तो अब किसी और के मन का बोझ ढोना है अमर। मुझे जाने दो। कोमल कार में बैठा-बैठा ऊब रहा होगा।

अमर—मैं उन्हें भी यहीं बुलवा लेता हूँ—कुछ देर रुक जाओ। (पुकारकर) घनसू ! घनसू !

अचला—अमर, अच्छा हो तुम अपनी गुत्थियाँ अकेले ही सुलझाओ। मैं पास रहूँगी, तो डरती हूँ कहीं मै भी न उनमें उलझ जाऊँ। अच्छा मैं चलती हूँ। (अचला का प्रस्थान और साथ ही घनसू का प्रवेश)

घनसू—जी भैया।

अमर—(अनमने भाव से) कुछ नहीं···जाओ।

घनसू—जाऊँ ?

अमर—हूँ ! नहीं···सुनो, यह बतलाओ कि अचला गई ?

घनसू—अभी तो गई हैं, दौड़कर बुलाऊँ ?

अमर—मैंने रोका था रुकी नहीं।···अब क्या लौटेगी। जाने दो। (रुककर) सरिता कहाँ है ?

घनसू—अपने कमरे में···। कमरा अन्दर से बन्द किए हैं। कुछ पटकने फेंकने की आवाज आ रही है। बुलाऊँ ?

अमर—(कुछ चिढ़कर) अभी उसे अपने मन की कर लेने दो।···फिर मैं अपने मन की करूँगा।···और···पिताजी कहाँ हैं ?

घनसू—अपना सूटकेस खोले बैठे हैं। अपने उन चार-छह कपड़ों में जाने क्या खोज रहे हैं। मैंने पूछा तो कहने लगे—घनसू, शान्ति खोज रहा हूँ।

अमर—(सोचते हुए) कपड़ों में शान्ति ! काश उन्हें कहीं भी शान्ति मिल जाती तो मैं भी शान्त हो जाता।

घनसू—(कुछ क्षण चुप रहकर) भैया मैं जाऊँ ?···

अमर—क्यों, कुछ और काम है क्या ?

घनसू—(झेंपकर) आज जल्दी काम खत्म करके जल्दी घर जाना चाहता हूँ।

अमर—कुछ काम है घर पर ?

घनसू—हाँ····जी····जी····आज घरवाली के साथ बाजार जाना है।

अमर—(कुछ चौकन्ना होकर) अच्छा ! पहले तो बड़ा मारता-पीटता था उसे। अब इतना प्रेम !

घनसू—भैया, वह तो चलता है। जब गलती करती थी, मारता था। अब सीधी राह चलती है तो पूजता हूँ। (तेजी से) वैसे वह बुरी नहीं है भैया। पहले उसका पहिला देवर आकर उसे भड़काया करता था।

अमर—पहिला देवर !

घनसू—उसकी एक शादी पहिले हो चुकी थी। उसका पहिला आदमी नहीं रहा।

अमर—और अब तुमने उससे शादी कर ली।

घनसू—मेरो भी तो एक औरत मर चुकी है। (झेंपकर) दोनों एकसे हैं।

अमर—आजकल तुम दोनों खुश हो घनसू ?

घनसू—बहुत खुश भैया। दिन भर दोनों कमाते हैं, रात को रूखो-सूखी साथ खाते हैं। (हँसकर) खाना बनाने का काम उसका, सामान जुटाने का काम मेरा। बस इसी तरह सब काम बँटे हैं भैया।

अमर—काम बँटे हैं, अच्छा है। पर घनसू, जब मन बँट जाते हैं तो आदमी की हँसी भी बँट जाती है।

घनसू—भैया, काम भर बँटा है हमारा, इतना मैं जानता हूँ, और कुछ नहीं।

अमर—तू बहुत भोला है घनसू।

घनसू—(मुस्कराकर) मेरी घरवाली भी यही कहती है भैया।

अमर—(अचानक हँसकर) तेरी घरवाली भी यही कहती है ?

कोमल—(द्वार पर आकर) मैं आ सकता हूँ ?

अमर—(चौंककर) कौन ! (देखकर) आपका चेहरा तो परिचित है····पर !

कोमल—(अन्दर आते हुए) पर आप पहचाने नहीं। मैं कोमलचन्द अग्रवाल···।

अमर—(तपाक से) हाँ···हाँ···चक्कर में इसलिए पड़ गया कि मैं समझ रहा था कि आप और अचला चले गए।

कोमल—मैं अचला को ही देखने यहाँ आया हूँ। थक गया कार में बैठे-बैठे···(हँसकर) हाथ पर हाथ रखे-रखे भी हाथ दर्द देने लगे।

अमर—पर अचला को गए तो पाँच मिनट हो गए।

कोमल—पाँच मिनट हो गए ? कार के पास तो नहीं आई—कहाँ गई होगी ।

अमर—मैं भी नहीं कह सकता ।

कोमल—(घूमते हुए) तो फिर मैं चलूँ···कहीं वह कार के पास पहुँचकर मेरी राह न देखे ।

अमर—इतनी जल्दी क्या है ।···आप बैठिए तो । घनसू, तुम जाकर कार के पास रुको । अचला वहाँ आएँ तो उन्हें यहाँ ले आना । (घनसू का प्रस्थान)

कोमल—अचला को खोजने की धुन में मै अचानक आपके घर में घुस आया—यह बदतमीजी है । मुझे काल-बेल बजाना चाहिए था ।

अमर—नहीं, ऐसी कोई बात नहीं । यह तो आप ही का घर है ।

कोमल—(हँसकर) मेरा···नहीं नहीं, ये आप क्या कह रहे हैं । हाँ, यह घर अचला का होने वाला था पर नहीं हो पाया ।

अमर—(कुछ झेंपकर) भाग्य की बात है ।

कोमल—बिलकुल ठीक ! और फिर जहाँ तक प्रेम का सवाल है, वह तो भाग्य भरोसे ही चलता है । आपका क्या खयाल है ?

अमर—मै आपका विरोध नहीं करना चाहता ।

कोमल—आप तो जानते हैं मै व्यापारी हूँ—और व्यापार में हम लोग भाग्य को सबसे बड़ी चीज मानते हैं । यही हालत प्रेम की है । और इसीलिए आजकल के प्रेम को मैं एक व्यापार मानने लगा हूँ ।

अमर—(आश्चर्य से) प्रेम को आप व्यापार मानते हैं !

कोमल—जो, पूरी तरह। व्यापार में कुछ देकर कुछ लिया जाता है···वही हाल प्रेम का है। जब कुछ दीजिए तब कुछ मिलता है। (अमर का रुख देखकर) मैंने तो न ऐसा प्यार सुना न देखा जिसमें सिर्फ देना ही देना या सिर्फ लेना ही लेना हो। प्रेम भी एक लेन-देन है याने व्यापार है।

अमर—आपने तो एक छोटी सी बात लेकर प्रेम को व्यापार बना दिया।

कोमल—(बनकर) यह बात छोटी है ? (रुकते हुए) मैं तो नहीं मानता। थोड़ा आगे सोचिए तो शायद मेरी बात आपको जँच जाए। मैं अपना ही उदाहरण देता हूँ आपको। मेरी कपड़े की दूकान है। आप कपड़ा लेने आए, मैंने माल दिखाया, मोल-भाव किया। आपको रुचा तो आपने खरीदा, वर्ना अगली दूकान पर चले गए। मेरा माल किसी और को रुचा, उसने खरीद लिया। प्रेम में भी बहुत कुछ ऐसा ही होता है।

अमर—आपका उदाहरण मेरी समझ से बाहर है।

कोमल—इस छोटी सी बात को जरा बढ़ाकर कहता हूँ। अब देखिए—आप, मैं और अचला में प्रेम का व्यापार चला। उसे आपका दिल याने माल नहीं जँचा, वह आगे बढ़ी और (हँसकर) मेरी दूकान पर सौदा तय हो गया। भाई अमरनाथ, मैं तो सारी चीजें इसी तरह देखता और समझता हूँ।

अमर—व्यापार में नुकसान भी होता है···।

कोमल—प्रेम में भी तो नुकसान होता है···आप भी जानते हैं

और मैं भी। पर नुकसान से डरकर जो व्यापार बन्द कर देता है उसे व्यापारी कौन कहेगा। (उठते हुए) अब आज्ञा दीजिए।

अमर—अचला तो आई नहीं।

कोमल—उसे ढूँढ़ लूँगा। और फिर कल तो मिलूँगा ही। हमारी शादी में तो आप आएँगे न!

अमर—शायद····

कोमल—(हँसकर) क्यों कुछ दर्द या जलन···वगैरह···

अमर—(तपाक से) नहीं यह बात नहीं। कल हमारी शादी की वर्षगाँठ है। मैंने तो अचला से कहा है कि आप लोग मेरे यहाँ आएँ।

कोमल—आपके यहाँ वर्षगाँठ है···हमारे यहाँ केवल गाँठ है।··· (हँसकर) गाँठ दोनों जगह हैं। देखिए, कौन कहाँ तक बँध पाता है। अगर हम न हुए तो क्या होगा और लोग तो आएँगे ही···घर के लोग भी तो होंगे ही।

अमर—अगर सब यही सोच लें तो शायद कोई न आए। (रुककर) घर के लोगों में सिवा पिताजी के और है ही कौन?

कोमल—(कुछ चौंककर) पिताजी यहीं हैं आपके!

अमर—हाँ·····क्यों?

कोमल—(सँभलते हुए) कोई बात नहीं, यों ही पूछा। मैंने सुना था कहीं इलाज कराने गए हैं।

अमर—काश मैं उनका इलाज करा पाता।

कोमल—चाहो तो क्या नहीं हो सकता।

अमर—कोमल! मैं इतना नीच तो नहीं कि उनके इलाज

की बात ही नहीं सोचूँ। (रुककर) कितनी बार सोचा और प्रयत्न भी किया। पर कभी पिताजी की हिम्मत हार जाती है और कभी डाक्टरों का ज्ञान थक जाता है।

कोमल—तो जब तक इलाज नहीं हो जाता आपको चाहिए कि उन्हें अलग रखें। सुना है इस बीमारी के कीटाणु होते हैं जो फैलते हैं।·····आपके तो पिता हैं·····पर दूसरे आदमी के लिए तो···

अमर—(रोकते हुए) मैं सब समझता हूँ···आप इस विषय पर कुछ न कहें तो अच्छा है। (साँस लेकर) बीमारी के कीटाणुओं से आपका दिखावा डर सकता है, मेरा स्नेह नहीं। (सँभलते हुए) कोमल, हम तपेदिक के बीमार के पास तो जाते हैं···उसके भी तो कीटाणु होते हैं।

कोमल—(कुछ गड़बड़ाकर) जाना वहाँ भी नहीं चाहिए पर वहाँ जाते इसलिए हैं कि ऊपर से वह मरीज इतना खराब तो नहीं दिखता।

अमर—दिखावा! वह आपके लिए है, मेरी आँखें तो स्नेह ने अन्धी कर दी हैं।···

कोमल—(हँसकर) पर भई, आपकी आँखें दुनिया की आँखें तो नहीं हैं। आप कुछ भी सोचें, जो बात दुनिया कहती है वही मानी जाएगी। (बात बदलते हुए) खैर, अभी मैं जल्दी में हूँ, इस पर फिर कभी बातें होंगी। मैं चलता हूँ।

अमर—जैसी इच्छा।···पर मेरी बधाई तो लेते जाइए। कल ···शायद·····

कोमल—हाँ, कल तो मैं खुद अपने मेहमानों के बीच नए रास्ते पर चलना शुरू करूँगा···। पर मेरे न आने से यहाँ

कोई कमी तो रहेगी नहीं। अचला कह रही थी—सरिता ने कई तरह के कई मेहमान बुलाए हैं। (हँसकर) वे आपके कार्यक्रम की शोभा बढ़ाएँगे। (धीरे से) यदि उन्होंने आने की हिम्मत कर ली तो·····

अमर—(आश्चर्य से) आने की हिम्मत·····!

कोमल—कहाँ तक दोहराऊँ···। आपके पिताजी जो आ गए हैं।···(बनावटी ढंग से) इससे सरिता को अधिक दुख होगा ···(साँस लेकर) उनके खास मेहमान इस बहाने घर आने वाले थे—पता लगने पर वे भी शायद न आएँ।

अमर—सरिता के खास मेहमान !

कोमल—च्···च् च् च्···नहीं समझे ? या समझकर भी ना-समझ बने हैं ? सरिता के खास मेहमानों को नहीं पहिचानते आप ? अचला तो सब जानती है। खैर, ऐसा कीजिए कि पिताजी को कहीं भेज ही दीजिए—जिससे उनके मेहमानों को न आने का बहाना न मिले·····।

अमर—(चिल्लाकर) कोमल !

कोमल—(हँसकर) बात नाराज होने की नहीं—दाद देने की है—आप गलती कर रहे हैं।

अमर—(क्रोध से) जी, मैं गलती कर रहा हूँ···जो आपको बाहर नहीं निकाल रहा हूँ·····।

कोमल—(हँसकर) शान्त हो जाइए। निकालने की तकलीफ आपको नहीं करनी होगी। (चालाकी से) आप मुझसे इस तरह का सलूक कर रहे हैं पर मुझे गुस्सा नहीं आ रहा —क्योंकि मैं जानता हूँ, व्यापार में जिस व्यापारी को घाटा होता है उसका यही हाल होता है।

अमर—(क्रोध से) कोमल ! मुझे मजबूर न करो कि मैं तुम्हारा अपमान कर बैठूँ···मैं अब कुछ नहीं सुनना चाहता।

कोमल—मैं अब कुछ कहना भी नहीं चाहता···(घूमते हुए) सरिता देवी के मेहमान को देखकर आप सोचेंगे कि मैंने कुछ और क्यों नहीं कहा···। नमस्ते···(हँसकर) तबियत हो तो स्वीकार कर लीजिए (प्रस्थान)

अमर—(कोमल का जाना क्रोध से देखता है। फिर व्याकुलता से यहाँ-वहाँ घूमता है। कुछ क्षणों बाद चिल्ला उठता है) सरिता ! सरिता ! (कमरे की चीजें उठा-उठाकर फेंकता है। इसी समय एक ओर से मुरारीलाल का प्रवेश होता है। अमर को देखकर उनके मुँह पर चिन्ता की रेखाएँ खिंच जाती हैं)

मुरारी—(यहाँ-वहाँ देखकर) ये क्या हो रहा है ?

अमर—ये सब चीजें सरिता की हैं···(चीजें फेंकते हुए) पिताजी, ये सब चीजें सरिता की हैं।

मुरारी—हैं तो ठीक है। (अमर को रोकते हुए) पर अब उसकी कौनसी ऐसी चीज है जो तुम्हारी नहीं है ?

अमर—(थककर) अब उसकी कोई चीज मेरी नहीं है।

मुरारी—पागल हो गए हो बेटा।

अमर—(भरे गले से) पिताजी, अगर पागल हो जाता तो अच्छा था। इन उलझनों पर हँस तो सकता था।

मुरारी—यदि तुममें हिम्मत है तो उलझनों पर तुम आज भी हँस सकते हो।

अमर—मेरी हिम्मत टूट गई है—मैं टूट गया हूँ, पिताजी।

मुरारी—बेटा इस तरह निराश नहीं होते। यदि तू टूट जाएगा तो मैं किसके सहारे खड़ा हो सकूँगा। (भरे गले से) जहाँ

जाता हूँ झिड़क दिया जाता हूँ, जिसके पास खड़ा होता हूँ वही ईश्वर को दुहाई देकर दूर हट जाता है। (रुककर) पता नहीं किन पापों के बदले ईश्वर ने मुझे हाथ जोड़ने योग्य भी नहीं रहने दिया।

अमर—(दृढ़ता से) पिताजी ! मैं नहीं चाहता कि आप किसी के सामने हाथ जोड़ें, चाहे वह ईश्वर ही क्यों न हो।

मुरारी—बेटा, बिना हाथ जोड़े मन भी नहीं जुड़ता।

अमर—मन के जुड़ने पर से भी मेरा विश्वास उठ गया है पिताजी। सब ढोंग है, सब स्वार्थ है।

मुरारी—तेरा मन उचटा सा लग रहा है। कुछ देर पहले बाहर आया तो तेरे स्नेह भरे शब्दों ने मन भर दिया था।···इतनी सी देर में क्या हो गया है तुझे ?

अमर—बिजली गिरने में समय नहीं लगता—मेरे दिल पर बिजली गिरी है, पिताजी—मेरे विश्वासों पर बर्फ पड़ गई है।···बस मैं और कुछ नहीं कह सकता पिताजी।

मुरारी—अच्छा जा थोड़ी देर लेट जा···उचटा मन शान्त हो जाएगा (अमर को पकड़ने की कोशिश करता है—फिर अचानक रुक जाता है) जा लेट जा···मैं···(भरे गले से)···इन हाथों से तुझे थपथपा भी तो नहीं सकता।···और इन लड़-खड़ाते शब्दों में इतना बल कहाँ कि तेरा दर्द दबा सकें—जा बेटा···माँ की याद कर और लेट जा···मैं बाहर बैठता हूँ। यहाँ रुकूँगा तो तुझ पर हाथ पड़ ही जाएगा। बहू खामखा नाराज होगी।

अमर—मुझे उसकी नाराजगी की बिलकुल चिन्ता नहीं। (स्नेह से) आप यहीं रहिए पिताजी।

मुरारी—चाहता तो यही हूँ···पर पास रहूँगा तो हाथ चाहेंगे कि तेरे सिर पर आ जाएँ···पर यह कैसे कर सकूंगा···।

अमर—क्या आपके हाथों ने कभी मुझे नहीं थपथपाया···? क्या मैं कभी आपकी गोद में नहीं आया ?

मुरारी—ऐसी बात नहीं बेटा। इन्हीं गली उँगलियों को पकड़ कर तूने चलना सीखा है, इन्हीं घृणित बाँहों पर तूने स्नेह का पाठ पढ़ा है बेटा। पर उन दिनों न तेरे मन में सन्देह था न मेरे। (रुककर) अब सन्देह ही सन्देह है··· घर में···मन में···(भरे गले से)—तो दूर ही रह···क्यों मेरे पास आकर दुनिया से दूर होना चाहता है। (जाते हुए) मुझसे दूर हो रह···मैं तेरी दुनिया नहीं छीनना चाहता ···मैं अपने लिए तुझे नहीं मिटने दूंगा···(भीतर जाते हुए) मेरा क्या ? जीना क्या, मरना क्या ? (प्रस्थान)

अमर—(पुकारकर) पिताजी···पिताजी, रुकिए···मेरा मन डूब रहा है। (अकेला यहाँ-वहाँ देखता है और फिर चीजें यहाँ-वहाँ बिखेरने लगता है। बीच में कह उठता है) आज मन डूब रहा है—सबको डूबना होगा।

(पर्दा गिरता है)

अंक ३

[अमरनाथ का वही कमरा। वही दिन। घड़ी में सात बज चुके हैं। कमरे में चीजें अस्त-व्यस्त और टूटी-फूटी पड़ी हैं। घनसू कमरा साफ कर रहा है और एक ओर मुरारीलाल खड़े कमरे को देख रहे हैं।]

मुरारी—घनसू, कितना सुन्दर दिखता था यह कमरा सवेरे। क्या हालत बना डाली अमर ने इसकी।

घनसू—भैया का गुस्सा ही ऐसा है। एक तो गुस्सा आता नहीं—और जब आता है तो फिर—बस उठा-पटक, तोड़-फोड़···!

मुरारी—उसके गुस्से में जो दर्द है वह तू नहीं समझ पाएगा। (साँस लेकर) उस दर्द की बेचैनी उसने इस तोड़-फोड़ में निकाली है।···पर इससे मन क्या शान्त होगा।

घनसू—अभी भी तो गुस्से में ही दिखते हैं। आज शाम को बाजार जाने वाले थे। कह रहे थे कल के लिए बहुत सी चीजें खरीदनी है। शायद भूल गए।

मुरारी—वह तो अपने को भूले हैं। (साँस लेकर) मेरा बेटा क्या से क्या हो गया।

घनस—बहुत बदल गए हैं भैया एक साल में। बोलचाल में, रहन-सहन में, सभी में।···आपको याद है न बिना सूट-बूट के बाहर नहीं जाते थे—अब तो जो मिला पहिन लेते

हैं।···पहिले रोज टाई बदलते थे···अब तो बस एक ही टाई रह गई है···।

मुरारी—टाई···! घनसू, तू मेरा सूटकेस बाहर रख गया था सवेरे—उसमें भी तो एक टाई बँधी थी···।

घनसू—(अटकते हुए)···बस वही टाई तो है सरकार जो भैया बाद तक बाँधा करते थे···।

मुरारी—(कुछ हँसने की कोशिश करते हुए) तो आज अमर ने अपने गले के बदले मेरे सूटकेस में क्यों बाँध दी···?

घनसू—भैया ने नहीं बाँधी। सूटकेस में टाई बाँधकर मैं ले गया था। (मुरारी को देखकर) बहूरानी का हुकुम था—इसलिए—मैंने अपने मन से नहीं किया···।

मुरारी—बहू की आज्ञा थी···क्यों ? सूटकेस में टाई···समझा नहीं।

घनसू—ये···मैं···मैं···कुछ नहीं कह सकता···सरकार···सरकार··· मैं···।

मुरारी—(कुछ विचलित होकर) तू छिपा रहा है घनसू। (कुछ भरे गले से) ये टाई इसलिए भेजी गई थी कि मैं उससे अपने गले में फाँसी लगा लूँ।

घनस—नहीं सरकार यह बात नहीं थी।

मुरारी—फिर क्या बात थी ?

घनसू—टाई में बाँधकर मैंने आपके सूटकेस को उठाया था··· बहूरानी ने कहा था। (धीमे स्वर में) मैंने उसे हाथ से उठाया था तो बहुत बिगड़ी थीं।

मुरारी—हाथ से पकड़ने पर बिगड़ी थीं···क्यों ?

घनसू—मैं···मैं···ये नहीं कह सकता·····। (भरे गले से)·····

सरकार, वे कहती हैं जो चीज आप छू लेते हैं वो किसी को नहीं छूना चाहिए।

मुरारी—(करुण स्वर में) मैं समझ गया घनसू ! वो मेरी छुई चीज नहीं छूना चाहती···(भावुकता से) शायद इसी-लिए अब वह अमर से भी खिच रही है—क्योंकि मैंने तो उसे दिल भर छुआ है, दुलराया है (सँभलते हुए)—पर सूटकेस क्यों बाहर रख गया था ?

घनसू—बहूरानी का हुकुम था।···मुझे तो उनका हुकुम मानना ही होता है···मैं क्या करूँ।

मुरारी—बहू की आज्ञा—मगर क्यों ?···क्या इतने बड़े घर में मेरे सूटकेस के लिए जगह नहीं थी ?

घनसू—(अटकते हुए)···मैं···मैं क्या बतलाऊँ सरकार···मैं तो ···हुकुम···

मुरारी—(बीच में) पर उस हुकुम का कुछ तो कारण होगा।

घनसू—कारण तो···तो···साफ है···सरकार।

मुरारी—(समझते हुए) ओ ! बहू चाहती थी कि मैं चला जाऊँ···तुझसे कुछ कहा भी था क्या ?

घनसू—जी···जी···जी हाँ। पर मैं आपसे कैसे कहता··· सरकार···मेरी जीभ में इतनी हिम्मत है कहाँ। सरकार का नमक खाया है (व्याकुल होकर)—उनकी गाली खाकर भी मैं चुप रह गया···।

मुरारी—तो बहू चाहती है कि मैं यहाँ से चला जाऊँ, अमर भी यही कह रहा था। (रुककर) घनसू, तू तो जानता है कि किस तरह सीने पर सिल रखकर मैंने अमरनाथ की शादी के लिए हाँ कह दिया था···और किस हालत में

चुपचाप घर से चला गया···केवल इसलिए कि उनके मन की होती रहे···उनकी स्वाधीनता बनी रहे···पर उसके बाद भी बहू का मन नहीं भरा।

घनसू—बहूरानी तो चाहती थीं कि आप न लौटें··· ।

मुरारी—मैं भी यही सोचकर गया था—पर क्या करूँ घनसू—ये मन नहीं माना—(करुणा और क्रोध से) इसी कमजोरी से मन दो टूक हो रहा था—इसलिए दोनों पैर मेरी निर्लज्जता ढोकर यहाँ ले आए···नहीं तो मैं न आता। घनसू···नहीं तो मैं आने के लिए नहीं गया था।

घनसू—सरकार घर तो आपका है।

मुरारी—(सूखी हँसी के साथ) हूँ। पहिले मैं भी यही सोचता था। पर अब कहाँ है इस घर पर मेरा अधिकार। देख तो रहा है, मैं इसमें दो दिन भी नहीं रह सकता। (रुककर) मेरा घर—और उस पर इतना अधिकार भी नहीं!

घनसू—(दृढ़ता से) पूरा अधिकार है सरकार।

मुरारी—नहीं रे, अब कहाँ रहा अधिकार। अधिकार होता तो कोई दूसरा इस तरह अपना अधिकार बतलाता। (भावुकता से) मन पर अधिकार खोकर आया था—घर का अधिकार खोकर लौट जाऊँगा।

घनसू—(करुण होकर) नहीं सरकार···आप नहीं जाइए··· ।

मुरारी—(आँसू भरी हँसी के साथ) पगले! अपनी मालकिन की आज्ञा भूल गया। मुझसे कह—डाँटकर कह कि मैं अभी चला जाऊँ।

घनसू—(करुण होकर) सरकार—आपसे यह कहने के पहिले मैं खुद यहाँ से चला जाऊँगा।

मुरारी—(कुछ क्षण की शान्ति के बाद सोचते हुए) याद है घनसू, जब यह घर नया-नया बना था और अमर की माँ के साथ इस कमरे में मैं पहिली बार आया···तू भी तो साथ था न (घनसू सिर हिलाता है)—अमर की माँ ने कहा था—यह कमरा हमेशा तुम्हारी बैठक रहेगा। साथ वाले कमरे में जाकर उसने कहा था—यह कमरा मेरी पूजा का कमरा होगा।

घनसू—(हाथ दिखाकर) उधर वाला कमरा न सरकार। (मुरारी सिर हिलाता है) अब तो उसमें बहूरानी के कपड़े और चप्पलें-जूते रखे हैं।

मुरारी—पूजा के कमरे में जूते हैं। ठीक है। (रुककर) जहाँ अमर की माँ सोती थी, वहाँ क्या है ?

घनसू—वहाँ खाना बनता है।

मुरारी—वहाँ आग जलती है—ये और अच्छा है···। (घूमकर सोचते हुए) और घनसू जिस दालान में मैं पड़ा हूँ वह तेरे लिए थी।

घनसू—मुझे मिल जाती सरकार तो बड़ा अच्छा था। मेरी झोंपड़ी तो टूट गई है।

मुरारी—पगले, तेरी जगह पर तो मैं आ गया हूँ, तुझे अब कौनसी जगह बतला दूँ। (रुककर, करुण स्वर में) पर बहू मुझे उस जगह पर भी नहीं रहने देना चाहती।

घनसू—वे नहीं चाहतीं कि आप कल के जलसे में यहाँ रहें।

मुरारी—घनसू, मैं उसी के लिए तो आया था···उसके बाद चला जाऊँगा···फिर नहीं आऊँगा। (बच्चों की तरह) फिर कभी नहीं आऊँगा।

घनसू—मैंने सुना है सरकार, भैया बहूरानी को यही समझा रहे थे, पर वे नहीं मानतीं।

मुरारी—बहू ठीक कहती है। कल उसके रिश्तेदार आएँगे··· उसकी सखियाँ आएँगी।···अगर मैं यहाँ रहा तो उसका अपमान हो जाएगा। (करुणा से) इस शिष्टाचार के सामने मेरा स्नेह कोई अर्थ नहीं रखता···है न घनसू ?

घनसू—सरकार !

मुरारी—(भरे गले से) मुझे ही नहीं, मेरे स्नेह को भी महारोग हो गया है। सच, मेरा स्नेह भी मेरी उँगलियों की तरह गल गया है—मेरी ममता के चेहरे पर भी दाग आ गए हैं—तभी तो लोग मेरे स्नेह से भागते हैं—मेरी ममता को दुतकारते हैं।

घनसू—पर भैया तो कभी ऐसा नहीं सोचते। वे तो यही चाहते हैं कि आप न जाएँ।

मुरारी—मैं जानता हूँ घनसू। अमर की एक-एक उमंग मैं पहिचानता हूँ—अमर की एक-एक भावना मैंने परखी है। (रुककर) इस समय उसकी दशा मैं समझ रहा हूँ। जिसे कभी दुखी नहीं होने दिया मैंने, (भरे गले से) आज उसके दुख का कारण भी मैं ही बन गया हूँ। जिसके चेहरे पर मुस्कान देखने के लिए मैंने अपनी हँसी बेची थी, आज मेरे कारण सब उसकी हँसी उड़ा रहे हैं—(व्याकुल होकर) घनसू, मैं क्या करूँ।

घनसू—सरकार, भगवान पर भरोसा रखिए—सब ठीक हो जाएगा।

मुरारी—घनसू, यह सब भी तो भगवान की देन है—कहाँ

तक भरोसा करूँ उसका। (बच्चों की तरह) मेरे पापों की सजा मुझे ही क्यों नहीं देता ! मेरे बेटे को क्यों उसका भागीदार बनाता है ! तू देख तो रहा है उसी भगवान का नाम ले-लेकर मैं गल रहा हूँ, जल रहा हूँ—फिर भी···(अचानक दरवाजे पर अचला दिखाई देती है। मुरारी रुक जाता है। सँभलकर बात बदलकर कहता है) कौ··· कौन···अचला···आओ बेटी··ये बूढ़ा यहाँ भगवान को साक्षी बनाकर अपना सुख खोज रहा है···आओ।

अचला—मैं भी कुछ खोजने आई हूँ चाचाजी।

मुरारी—तुम्हारा क्या गुम गया ?

अचला—बैग में से कुछ कागज गिर गए हैं। शाम को यहाँ आई थी···सोचा, देख लूँ, कहीं यहीं तो नहीं गिर गए।

मुरारी—घनसू, अमर को तो बुला ला। शायद उसे मिले हों। मैंने तो नहीं देखे।

अचला—अमर को मिले होते तो मुझ तक जरूर पहुँच गए होते। घनसू, मत बुलाओ उन्हें। बेकार तकलीफ होगी।

मुरारी—जो दुख में पलते हैं उन्हें ऐसा दुख दुख नहीं देता। जा घनसू, अमर को बुला ला। (घनसू का प्रस्थान)

अचला—(कमरे को देखते हुए) कमरा कुछ उदास-उदास दिख रहा है। जमीन पर चीजों के टुकड़े भी पड़े हैं।···क्या बात है चाचाजी ?

मुरारी—(भावुकता से) ये उदासी कमरे की नहीं, अमर की है बेटी···और ये टुकड़े शायद उसकी भावनाओं के टुकड़े हैं। (सँभलकर) मैं कविता नहीं कर रहा हूँ, सच कह रहा हूँ।

अचला—जी···पर···क्यों ?

मुरारी—बेटी, तुम अमर का मन मुझसे अधिक समझती हो फिर भी मुझसे ही पूछ रही हो। (रुककर) घनसू कह रहा था कि तुम कल शादी कर रही हो।

अचला—जी···जी···हाँ।

मुरारी—किससे ?

अचला—(अटकते हुए) वो कपड़े वाले अग्रवाल का लड़का है···न···वो···

मुरारी—(याद करते हुए) कपड़े वाले अग्रवाल का लड़का··· कोमल ?

अचला—जी हाँ। उसी से।

मुरारी—(चौंककर) उसके साथ शादी कर रही हो तुम ! तुम्हें वह अमर से अच्छा लगा ! (अचला मुरारी की ओर देखती है) अमर ने कुछ नहीं कहा मुझसे, पर मेरी आँखें अमर को पूरी तरह पढ़ लेती हैं बेटी। वह तुमसे शादी करना चाहता था। तुमसे शादी हो जाती तो आज शायद वह सुखी होता। (रुककर) पर न जाने क्यों तुमने नहीं कर दी।

अचला—इसे भाग्य की बात ही समझिए।

मुरारी—अपना निर्णय भाग्य के सिर नहीं मारना चाहिए बेटी। कोमल में अमर से कुछ अधिक गुण दिखे होंगे तुम्हें।

अचला—जी ऐसी बात नहीं।···पर····पर····(रुक जाती है)

मुरारी—कह जाओ बेटी। सुनते-सुनते मैं आदी हो गया हूँ, बुरा नहीं मानूँगा।

अचला—आप तो जानते हैं कि कोमल के पिता नामी सेठ हैं। सब लोग उनकी इज्जत करते हैं। जहाँ जाते हैं, लोग आगे बढ़कर स्वागत करते हैं····और····(अचानक रुक जाती है)

मुरारी—और जहाँ मैं जाता हूँ, लोग पीछे हटकर दरवाजे बन्द कर लेते हैं। मेरी ओर घृणा की दृष्टि से देखते हैं। यही न ? (रुककर) पर बेटी, बाप के पाप बाप की कोई ऐसी अमानत तो नहीं जो बेटे पर थोप दी जाए।···बेटी, पिछले जन्म की मेरी कालिख इस जन्म में शरीर पर सफेदी बनकर मुझे जितना जला रही है, मैं जानता हूँ (भरे गले से)····बेटे को लोग उस आग में क्यों झोंकते हैं।

अचला—चाचाजी इसका उत्तर मैं क्या दे सकती हूँ। यह तो समाज का विचार है—समाज का ही यह नियम बन गया है।

मुरारी—समाज ! बेटी मैं, तुम सभी समाज से निकाल दिए जाएँ तो समाज में बचेगा क्या ? हमीं तो समाज हैं—यह हमारा ही तो मत है। बोलो ठीक है ?

अचला—(कुछ गड़बड़ाकर) आपके तर्क का मेरे पास उत्तर नहीं है····पर यदि मैं आपकी बात मान भी जाऊँ····तो दूसरे लोग नहीं मानेंगे।····मुझे तो दूसरों का भी ध्यान रखना ही होगा।

मुरारी—और उन्हीं दूसरों का ध्यान रखकर तुमने अमर को झिड़क दिया। ठीक है न ?

अचला—(अटकते हुए) जी···जी···झिड़का तो नहीं····पर मुझे अपना भविष्य····

मुरारी—और झिड़कना कहते किसे हैं बेटी ? (रुककर भरे गले से)

ठीक किया तुमने, अपना भविष्य बनाने के लिए अमर का भविष्य मिटा दिया। (सूखी हँसी के साथ) आज के ज्ञानी कहते भी यही हैं कि कुछ बनाने से लिए कुछ मिटाना होता है।···बेटी···तुम ज्ञानी हो···मेरा अमर मूर्ख है—सिर्फ मिटना ही जानता है।

अचला—जी ऐसी बात तो नहीं। अमर को कौन मूर्ख कहेगा। (टालते हुए) मैं चलती हूँ, अमर को आने में शायद देर लगे···। मुझे कई काम हैं।···आपको पता है ही कि कल मेरी शादी है।

मुरारी—हूँ। (अपने को सँभालते हुए) मैं खुश हूँ बेटी।

अचला—(चालाकी से) कल तो आपको यहीं रहना होगा—मेरे घर तो आ पाएँगे नहीं···मुझे आशीर्वाद आज ही दे दीजिए।

मुरारी—मैंने शाप देना सीखा ही नहीं बेटी···(स्नेह से) सुखी रहो—जीवन भर हँसती रहो और···(अमर का प्रवेश)

अमर—पिताजी आपने···(अचला को देखकर) बुलाया···या इन्होंने ?

मुरारी—मैंने ही बुलाया था। अचला आई थी इसीलिए। (अचला से) बेटी, अब तुम अमर से बातें करो···मैं चलता हूँ···।

अचला—चाचाजी, मैं कह चुकी मुझे काम है। जल्दी जाना है।

अमर—(कुछ चिढ़कर) फिर आप आई कैसे थीं ?

अचला—मेरे कुछ कागज गुम गए हैं—शाम को। उन्हें खोजने आई थी।

अमर—मिल गए ?

अचला—(चिढ़ाते हुए) उम्मीद है मिल जाएँगे ।

मुरारी—(बीच में) कैसे कागज थे बेटी ?

अचला—(अमर को देखकर) कल आने वाले मेहमानों की फेहरिस्त थी···। देखना था कौन-कौन रह गए हैं बुलाने के लिए । (घूमते हुए) मैं तो सारा काम पक्का करती हूँ । (चिढ़ाते हुए) अमर, सुना है सरिता ने भी अपने मेहमानों की ऐसी ही···

अमर—(चिढ़कर) अचला ! पिताजी के सामने मेरा मुँह न खुलवाओ ।

अचला—(हँसकर) मैंने मुँह खोलने को कहाँ कहा । बात तो कानों के लिए कही है मैंने ।···अच्छा मैं चलती हूँ । चाचाजी नमस्ते । (अमर की ओर एक कटाक्ष से देखती है और दरवाजे से गायब हो जाती है । अमर क्रोध पीकर रह जाता है)

मुरारी—(आत्म-ग्लानि से) इस सब घृणा का कारण मैं हूँ बेटा ! (रुककर) मुझे ऐसा लग रहा है कि मुझे नहीं आना चाहिए था ।

अमर—(विचलित होकर) पिताजी आप भी ऐसा सोचने लगे !

मुरारी—देखकर भी जो नहीं सोचता उससे बड़ा कोई मूर्ख नहीं बेटा । (भरे गले से) मुझे सूर्य निकलने के पहिले चला जाना चाहिए ।

अमर—(बच्चों की तरह) पिताजी, अगर आप चले गए तो मैं इन उलझनों के अँधेरे में अकेला रह जाऊँगा । (तेजी से) मैं भटक जाऊँगा पिताजी । आप न जाइए पिताजी ।

मुरारी—बहू तो चाहती है कि मैं चला जाऊँ। उसका विश्वास है कि मेरे जाने से घर में शान्ति आ जाएगी।

अमर—शाम तक मुझे भी विश्वास था। पर···(रुक जाता है)

मुरारी—पर ? पर शाम के बाद क्या हो गया ?

अमर—मेरा विश्वास टूट गया है पिताजी, बस इतना ही कह सकता हूँ। (रुककर) अपनी बनाई पगडंडी पर दौड़ रहा हूँ, उसके काँटों की शिकायत आपसे क्या करूँ। आपके मार्ग को तो मैंने उपेक्षा की है न। (भरे गले से) पिताजी आप न जाइए। मैं अकेला भटक जाऊँगा।

मुरारी—तू आत्म-विश्वास खो रहा है बेटा। सच्चे रास्ते कभी नहीं भटकाते। काँटों की चिन्ता नहीं करना चाहिए, वो तो हर रास्ते पर मिलते हैं।

अमर—मुझे तो आजकल हर रास्ता डराने लगा है। (भावुकता से) हर मोड़ जीवन को मोड़ देता है। इन्हीं मोड़ों से घबराकर तो मैंने रास्ते छोड़कर पगडंडी का सहारा लिया था। (रुकते हुए) पर इस पगडंडी में तो रास्ते से अधिक उलझने हैं। (साँस लेकर) मंजिल तक कैसे पहुँचूँगा !

मुरारी—हिम्मत के सहारे।

अमर—हिम्मत भी थक गई है पिताजी। (रुककर) सोचा था पगडंडी पर नहीं थकूँगा।

मुरारी—चलने का सिद्धान्त तो एक ही है बेटा। रास्ते पर हारे पगडंडी पर भी थक सकते है।···और फिर जब हिम्मत थक जाती है तो थकान जीवन की मुस्कान छीन लेती है। (समझाते हुए) बेटा, हिम्मत को न थकने दे।

अमर—आपका स्नेह ही मेरी हिम्मत है पिताजी, आप न जाइए। आपको रुकना ही होगा···।

घनसू—(प्रवेश करता हुआ) भैया, कोमल बाबू आए हैं···आपको पूछ रहे हैं।

अमर—(कुछ चौंककर) कोमल फिर आया है। क्यों ?

घनसू—कह रहे हैं आपसे मिलना है।

अमर—मुझे नहीं मिलना उससे। जले पर नमक छिड़कने आया होगा।

मुरारी—बेटा, घर पर जो आए उसका अपमान नहीं करना चाहिए। जा मिल ले।

अमर—पर पिताजी···

मुरारी—अचला को ही खोजने आया होगा।···और यदि कुछ कहे भी तो सुन लेना···क्योंकि भगवान सबकी सुनता है··· क्योंकि वह सबसे बड़ा है। हमें सबकी इसलिए सुनना है कि भगवान यही चाहता है। जा झगड़ा न करना। (अमर का प्रस्थान)

घनसू—सरकार, आज घर कैसा लग रहा है—सभी मन खट्टे हो गए हैं···मेरा मन भी काम में नहीं लग रहा है।

मुरारी—पगले ! अमर के साथ रहते-रहते तेरा मन भी कमजोर हो गया है।

घनसू—सरकार, जब इस घर में आया था—कितनी हँसी-खुशी थी सब तरफ···। माँजी गईं तो घर की हँसी चली गई।

कोमल—पर (हँसते हुए प्रवेश कर) हँसी बनकर मैं लौट आया (मुरारी और घनसू को देखकर) क्या मुझे नहीं आन चाहिए था ?

घनसू—जी आप तो छोटे सरकार को पूछ रहे थे···।

मुरारी—अमर तो अभी बाहर गया है तुमसे मिलने।

कोमल—तो जिस तरह कुछ देर मैं उनके लिए तंग हुआ उसी तरह कुछ देर वे मेरे लिए तंग होंगे। हो सकता है जिस तरह मैं यहाँ आ गया वे भी आ जाएँ।

मुरारी—आ जाए तो अच्छा है।

घनसू—मैं बुला लाऊँ।

कोमल—रहने दो। एक बार खबर दे दी थी, बहुत है। यदि मिलने का इरादा होगा तो मुझे खोज ही लेंगे। (हँसकर) मुझसे नाराज तो नहीं हैं न ?

मुरारी—कोमल, जिसे वह प्रेम करता है उसी पर नाराज भी होता है। वह अचला पर नाराज है।

कोमल—अचला पर अभी भी नाराज हैं ? (घनसू को देखकर) तुम जरा अचला को तो देखो कहाँ गई। यहीं आई थी न ?

घनसू—जी, देखता हूँ। (प्रस्थान)

कोमल—सच बतलाइए, क्या अमर अभी भी अचला पर नाराज हैं।

मुरारी—हूँ।

कोमल—(हँसकर) हद है। याने अभी भी उन्हें अचला से प्यार है। और मुझ पर नाराज हैं या नहीं ?

मुरारी—शायद नहीं···नहीं।

कोमल—अगर आप सच कह रहे हैं तो मुझे मानना होगा कि उन्हें मुझसे प्रेम नहीं। (हँसकर) अब तो मैं और अचला एक हो गए हैं—ठीक उसी तरह जैसे साड़ी और उसकी

किनार। साड़ी पसन्द आए और किनार नहीं—तो फिर सौदा क्या !

मुरारी—बेटा तुम उसकी भावना नहीं समझ रहे हो।

कोमल—मैं खूब समझ रहा हूँ और इसीलिए मैं आपके अमर को मूर्ख समझ रहा हूँ।

मुरारी—तुम उसे मूर्ख समझते हो ?

कोमल—जी। यों मैं आया था अचला को खोजने, पर यहाँ आने पर मैंने सोचा उस दिवालिए व्यापारी को व्यापार के कुछ नुस्खे समझा दूँ—इसीलिए मैंने उन्हें बुलाया भी था।

मुरारी—कैसा व्यापार ?

कोमल—यही प्रेम का···जिसमें उनका दिवाला निकल गया। एक ही बार के दिवाले में वो घबरा गए। आप जानते हैं, हमारे यहाँ वही व्यापारी सबसे बड़ा समझा जाता है जिसके सबसे अधिक दिवाले निकले हों।

मुरारी—व्यापार करने के बाद भी वह व्यापारी नहीं बन पाया—यही समझ लो।

कोमल—मुझे यही समझना होगा। प्रेम को व्यापार से अधिक समझना भलमनसाहत नहीं, कोरी भावना है—और भावना को मैं स्त्री की तरह अज्ञान और अबला मानता हूँ।

मुरारी—स्त्री अज्ञान और अबला ! फिर भी एक स्त्री तुम पर विजय पा गई—मुझे आश्चर्य होता है।

कोमल—स्त्री ने मुझ पर विजय नहीं पाई—उसकी मजबूरी उसे मेरे पास खींच लाई है और मैंने उसे कुछ झुककर

उठाया है, बस। (हँसकर) देखिए, आप चाहें मुझे अच्छा समझें या बुरा—पर चाहूँगा आप मुझे गलत न समझें।

मुरारी—मैं तुम्हें ठीक समझ रहा हूँ कोमल। इसीलिए मैं तुम्हारी बात नहीं मानता। मैं न भावना को अबला मानता हूँ न स्त्री को। अपने-अपने क्षेत्र में दोनों ताकतवर हैं—हाँ, दूसरे के क्षेत्र में जाकर वे कमजोर हो जाती हैं।

कोमल—कैसे ?

मुरारी—मैं स्त्री को भावना का ही रूप मानता हूँ और पुरुष को बुद्धि का। इसीलिए मैं समझता हूँ कि भावना के क्षेत्र में जाकर पुरुष कमजोर हो जाता है और बुद्धि के क्षेत्र में जाकर स्त्री। यह मैंने अनुभव किया है—देखा है।

कोमल—जिस दिन मैं अनुभव करूँगा या देखूँगा उस दिन शायद आपकी बात मैं मान लूँ—आज तो आपकी बात मैं नहीं मानता। आज तो मैं यह जानता हूँ कि स्त्री हर जगह कमजोर है—मैंने उसमें ताकत नहीं देखी।

मुरारी—बेटा, स्त्री में ताकत न होती तो तुम लोग बूढ़ों को ठुकराकर उसकी ओर ऐसे न खिंच जाते।

कोमल—ताकत के खिंचाव की बात तो तब मैं मानूँ जब खिंचकर कोई ऊपर उठे। यहाँ तो सब नीचे की ओर जाते हैं। इसलिए मैं यह मानता हूँ कि हम लोग खिंचते नहीं, अपने ही बोझ से नीचे लुढ़कते हैं और रास्ते में जहाँ कहीं स्त्री नाम का कोई रोड़ा मिल जाता है वहाँ रुक जाते हैं—बस ! खैर, अब चलूँ, काम है। फिर कभी आपसे चर्चा करूँगा···।

मुरारी—फिर पता नहीं कब मिल पाता हूँ।

कोमल—क्यों ? क्या हुआ ? कहीं जा रहे हैं क्या आप ?

मुरारी—इरादा तो नहीं था पर···।

कोमल—पर जाना ही होगा। मैं जानता था। आपके घर का वातावरण ही ऐसा हो गया है। कम से कम मैं तो अपने पिताजी के लिए ऐसा कभी नहीं सोच सकता। पिता कैसे भी हों आखिर हैं तो पिता···।

मुरारी—(कुछ क्रोध से) कोमल !

कोमल—मैं भूल गया। मुझे सच नहीं बोलना चाहिए था। आपने डाँटकर अच्छा किया। मैं अपनी आदत छोड़ रहा था—मेरी आदत—एक व्यापारी की आदत—जानते हैं आप—झूठ बोलना। (हँसता है)

घनसू—(प्रवेश करता हुआ) छोटे सरकार आपकी मोटर के पास खड़े हैं—कह रहे हैं वहीं मिलेंगे। और अचला···।

कोमल—उसे मैं ढूंढ़ लूँगा। अच्छा चाचाजी नमस्ते—चल दिया मैं···कान पकड़ता हूँ। अब आपके सामने सच नहीं बोलूँगा। (हँसी) अच्छा नमस्ते···(प्रस्थान)

मुरारी—कितनी गड़ती है इसकी हँसी। पर भाग्यशाली है—हँस तो सकता है। इस घर से तो घनसू, हँसी मिट गई।

घनसू—हाँ सरकार ! घर के कोने-कोने में उदासी दिखती है।

मुरारी—उदासी···। पता नहीं यह कब जाएगी और वह पुरानी हँसी कब आएगी।

घनसू—घर की हँसी तो पहिले माँजी के साथ चली गई सरकार, पर जब भैया की शादी हुई थी मैंने सोचा था वह हँसी लौट आएगी···(भरे गले से) पर···

सरिता—(प्रवेश करती हुई क्रोध से) पर मेरे आने से तुझ पर क्या पहाड़ टूट पड़े ? चैन से खाता है और यहाँ वहाँ आग लगाता है ।

मुरारी—(रोकते हुए) बहूरानी···

सरिता—जब से सुन रही हूँ, जिसे देखो वही सुनाए चला जा रहा है । और तो और, नौकर की भी इतनी हिम्मत हो गई··· !

घनसू—(गिड़गिड़ाकर, हाथ जोड़कर) पर···बहूरानी···

सरिता—चुप रह बत्तमीज ! जा अपनी दलीलें अपने छोटे सरकार को दे । (घनसू का प्रस्थान । आवाज बदलते हुए) इस घर के सब लोग वही करते हैं जो उन्हें नहीं करना चाहिए ।

मुरारी—गलत कह रही हो बहू । इस घर का हर आदमी वही करता है जो तुम चाहती हो ।

सरिता—अगर मेरी बात चलती तो आज यह तूफान न खड़ा होता ।

मुरारी—तो बोलो क्या चाहती हो ? मैं चला जाऊँ··· ? इतनी दूर हो जाऊँ कि मेरी छाया भी तुम पर न पड़े ? बोलो··· ।

सरिता—(टालते हुए) जो आप ठीक समझें ।

मुरारी—जब प्रश्न तुम्हारी खुशी का है तो मेरे ठीक समझने का प्रश्न नहीं आता । (रुककर) बहू, मैं चला जाऊँगा—यदि तुम विश्वास दिला दो कि मेरे जाने पर इस घर में खुशी आ जाएगी··· ।

सरिता—मैं कोशिश करूँगी··· ।

मुरारी—कोशिश करोगी। बस ! विश्वास नहीं दिला सकतीं ? (रुककर) मेरे जाने के बाद क्या तुम अमर से मेरे पुत्र होने का अधिकार छीन सकोगी—उसके दिल से मेरा स्नेह निकालकर फेंक सकोगी ?

सरिता—यह मैं नहीं कर सकती।

मुरारी—फिर घर में खुशी कैसे बुलाओगी ? मेरा पुत्र मेरा स्नेह लेकर मुझे कहाँ तक भूलेगा ? (रुककर) और क्या मेरे चले जाने पर लोग यह भूल जाएँगे कि अमर एक महारोगी का पुत्र है ? सोचो, कितना अमर भूलेगा—कितना दुनिया भूलेगी।

सरिता—(चालाकी से) मैं भूलने की बात कहाँ कहती हूँ। मैं तो यह चाहती हूँ कि लोग आप पर फबतियाँ न कसें। सोचिए, आपको देखकर जब लोग चार तरह की बातें करेंगे, आप की ओर घृणा से देखेंगे, तो क्या आपको अच्छा लगेगा ?

मुरारी—यदि उनके व्यवहार पर तुम दोनों चुप बैठे रहोगे तो मुझे बुरा लगेगा। दूसरों की बात का मैं बुरा नहीं मानता। (साँस लेकर) मुझे तो अपनों की बातें ही अधिक गड़ती हैं।

सरिता—उस समय हम लोग क्या कर सकेंगे ? आप ही बतलाइए···न उनसे झगड़ सकेंगे, न जाने के लिए कह सकेंगे। मेहमानों से कहा भी क्या जा सकता है ? (रुककर) आप न रहेंगे तो कोई बात उठेगी ही नहीं। (तेजी से) हम लोग आपसे रिश्ता थोड़े ही तोड़ना चाहते हैं।

मुरारी—अगर तुम चाहो भी तो रिश्ता नहीं टूट सकेगा···

(गम्भीर स्वर में) रिश्ता कोई प्रेम की गाँठ तो नहीं जो पल में खुल जाए और पल में बँध जाए।

सरिता—वो तो मैं जानती हूँ···।

मुरारी—फिर भी अपनी हठ पर से नहीं हटना चाहतीं। (याचना के स्वर में) बहूरानी, मैं मेहमानों के सामने नहीं जाऊँगा।

सरिता—जो स्नेह आपको इतनी दूर खींच लाया—मैं यह कैसे मानलूँ कि वह स्नेह पूजा के समय आपको अपने पुत्र के सामने नहीं खींच लाएगा? (तेजी से) मैं आपकी कमजोरी समझती हूँ, मैं आपके पुत्र की कमजोरी जानती हूँ, इसीलिए चाहती हूँ कि आप चले जाएँ। (रुककर) आपके पुत्र की शादी की वर्षगाँठ का उत्सव आपके कारण बिगड़े—क्या आप यही चाहते हैं?

मुरारी—नहीं-नहीं बहूरानी—ये मैं कैसे चाहूँगा! पर चाहता हूँ कि तुम्हारे मन की भी हो जाए और मेरा मन भी रह जाए···।

सरिता—पर यह दोनों बातें एक साथ सम्भव नहीं हैं।

मुरारी—(हारकर) ठीक···तो मैं चला जाता हूँ—(घूमते हुए, भरे गले से) अमर की हठ थी इसलिए रुक गया था—नहीं तो सूर्य के साथ मैं भी डूब गया होता। खैर—अब जाता हूँ···इसी समय···।

अमर—(प्रवेश करते हुए) आप नहीं जाएँगे पिताजी। (क्रोध से) जिसे आपका रहना बुरा लगेगा वह खुद चला जाएगा।

सरिता—(आश्चर्य से) यानी मैं चली जाऊँ इस घर से?

अमर—(कड़े स्वर में) जिसे पिताजी का घर में रहना बुरा लगे—चाहे वह कोई भी हो।

मुरारी—(समझाते हुए) बेटा, मेरे लिए अपना जीवन न बिगाड़ो। बहू तुम्हारा नया जीवन है। जीवन में जीवन से मुँह नहीं मोड़ते बेटा।

अमर—काश मैं ऐसा कर सकता पिताजी। मुझे किसी से कोई आशा नहीं रही। आप रहेंगे तो स्नेह तो मिल सकेगा।

मुरारी—तुम्हारी बात मैं नहीं मानता। मेरा कर्तव्य तो उस दिन समाप्त हो गया जिस दिन तुम्हारी शादी हुई।

अमर—और स्नेह ?

मुरारी—(करुण स्वर में) वह कहाँ समाप्त होता है बेटा। जब कर्तव्य समाप्त हो जाता है तो सारी शक्ति स्नेह ले लेता है। जब हम सोचते हैं वह कम हो, तब वह बढ़कर हमारी इच्छाएँ बढ़ाने लगता है।

सरिता—शादी के दिन आपने आशीर्वाद के शब्दों के साथ कहा था—इच्छाओं को सीमा के बाहर नहीं बढ़ने देना चाहिए।

मुरारी—अभी भी वही कहता हूँ बहू। पर साथ ही हार भी तो स्वीकार कर रहा हूँ। (रुककर) बहू, यह घर तुम्हारा है, यह अमर तुम्हारा है। (भरे गले से) चाहो तो यह बूढ़ा भी ··।

अमर—पिताजी !

सरिता—(कुछ गर्व से) पूरी बात तो कह लेने दीजिए।

मुरारी—पूरी बात कहने पर भी बात पूरी होगी—पूरी तरह कौन जानता है।

सरिता—मैं आपसे सारी बातें साफ-साफ कह चुकी—फिर भी आप सारा दोष मुझे ही लगा रहे हैं। (अमर की ओर देखकर) और इनके दिमाग में तो यह बात जम गई है कि मैं आपसे घृणा करती हूँ।

मुरारी—अमर के पास उसका कारण भी होगा। पर मैं तो किसी को दोष नहीं देता। मेरा रोग ही ऐसा है कि हर कोई मुझसे घृणा करता है। उस घृणा से मेरा स्नेह दब जाता तो शायद मुझसे सुखी और कोई न होता। बहू तुम नहीं जानतीं, यदि अमर का मोह मन में न होता तो अमर की माँ के साथ ही मैंने भी आत्म-हत्या कर ली होती। जब तक वह थी, उसका प्रेम घृणा ढाँक देता था। उसके बाद जब घृणा से बचने के लिए मैंने प्राण हारना चाहे तो अमर का मोह मुझे जीत गया। (साँस लेकर) मैं लाचार हो गया।

अमर—पिताजी, आप व्यर्थ में इतना कहे जा रहे हैं। इसका सरिता पर कोई प्रभाव नहीं होगा। पर मुझे उसकी भी चिन्ता नहीं।

सरिता—मुझे अपनी चिन्ता नहीं कराना। पर उन मेहमानों के बारे में तो सोचिए जिन्हें कल बुलाया है।···मैं नहीं चाहती कि यहाँ आकर लोग पिताजी को देखकर नाक-भौंहें सिकोड़ें और बधाइयों के बदले कोसते चले जाएँ।

अमर—तो तुम्हें बधाइयाँ चाहिए ?

सरिता—(चिढ़कर) बधाइयाँ मिलें या न मिलें, मैं गालियाँ नहीं चाहती। मैं नहीं चाहती कि हमारे परिवार की एक कमजोरी समाज की ताकत बन जाए।

मुरारी—बेटा, ठीक कह रही है बहू। मुझे चला ही जाना चाहिए। (रुककर) जाऊँगा, इलाज कराऊँगा और यह कोशिश करूँगा कि मन के नेह को भी सुखा डालूँ। यही बैरी मोह खींचता है—(भरे गले से) और बेटा जब मोह खींचता है तो धर्म-कर्म, उचित-अनुचित, सबका भेद मिट जाता है।

अमर—आप नहीं जाएँगे पिताजी।

सरिता—तो कल का जलसा भी नहीं होगा।

अमर—पिताजी रहेंगे और जलसा भी होगा।

सरिता—तो न मेहमान आएँगे और न मैं रहूँगी।

अमर—(चौंककर) ओ ! याद आया—मेहमानों से मिलने तुम उनके घर चली जाओगी।

सरिता—(आश्चर्य से) मैं मेहमानों से मिलने उनके घर चली जाऊँगी ! क्यों ?

अमर—यह मेरा प्रश्न है—उत्तर तुम दो। (रुककर, व्यंग्य से) कितनी भोली बन रही हो। मुझे तुम्हारे मेहमानों के विषय में पता चल गया है।

सरिता—तो इसमें कौनसी रहस्य की बात है। मेहमान घर पर तो आते ही—आपसे मिलते भी··· ।

अमर—मुझसे मिलने नहीं—तुमसे मिलने आते। (जेब से कागज निकालकर) यह है तुम्हारे खास मेहमानों की फेहरिस्त जो कोमल को शाम को बाहर बरांडे में मिल गई थी। वह इसे ही लौटाने आया था।

सरिता—(कागज के लिए हाथ बढ़ाकर) देखूँ··· ।

अमर—(कागज को छिपाते हुए) इसका सारा राज मुझे अचला

ने बतलाया था···पर मैंने उस पर अविश्वास किया था ···इस कागज को देखकर मेरा विश्वास लौट आया।

मुरारी—(जो चुप खड़ा सुन रहा था) बेटा···मेहमानों की फेहरिस्त में क्या हो सकता है ? व्यर्थ बात बढ़ाता है तू।

अमर—पिताजी, बात बहुत बढ़ चुकी है। उसे खतम करना चाहता हूँ। जलसे का बहाना है—(क्रोध से) इसे अपने कुछ दोस्तों से मिलना है।

सरिता—सोच लीजिए आप क्या कह रहे हैं।

मुरारी—अमर, इस तरह अविश्वास नहीं करते। (बात सँभालते हुए) यदि ऐसी बात होती तो घर पर बुलाने की क्या आवश्यकता थी ?

अमर—बाहर मिलने में भेद खुल सकता है।···आपको भी इसीलिए यह नहीं चाहती।

सरिता—इसे भी आप इसी ओछी बात से जोड़ रहे हैं।

अमर—पिताजी उस मेहमान को जानते हैं—यह तुम जानती हो—और इसीलिए···

सरिता—(क्रोध से) तो ये आग अचला और कोमल ने लगाई है !

अमर—(क्रोध से) आग किसी ने भी लगाई हो, उसका ईंधन तो तुमने जमा किया है।

मुरारी—(व्याकुल होकर) यह क्या हो रहा है भगवान !—बेटा शान्त हो जा—मैं जानता हूँ कि इस उलझन का कारण मैं हूँ—ये सब बहाने हैं—मैं जा रहा हूँ—तुम दोनों शान्त हो जाओ।

सरिता—आपके जाने से अब तो मुझे भी शान्ति नहीं मिलेगी।

इनके दिमाग का शक आपके जाने से बढ़ जाएगा··· । (अचानक) पिताजी···आप न जाइए ।

अमर—(क्रोध में) अब तो आपको जाना होगा पिताजी, जिससे इसके मेहमान आएँ और मैं इसका और इसके मेहमान का एक साथ खून कर सकूँ···। आप रहेंगे तो मैं कुछ न कर पाऊँगा ।

मुरारी—बेटा ! खून बहाने से खून नहीं बदलता बेटा ।

सरिता—तो आइए, पहिले मेरा गला दबा दीजिए—आगे बढ़िए—उठाइए हाथ—दबाइए मेरा गला—जिससे आपकी कमजोरियाँ गला फाड़-फाड़कर खुशियों के गीत गाने लगें—और मैं एक अविश्वास की घुटन से मुक्ति पा जाऊँ ।

अमर—(चिढ़कर) सरिता, बन्द करो मुँह ! वर्ना मैं आपे से बाहर हो जाऊँगा ।

मुरारी—बेटा···बेटा··· ! सोच, मेरे लिए क्या महारोगी होने का ही शाप कम है जो तू मुझ पर खूनी के बाप होने का धब्बा और लगा रहा है ? (रुककर, भरे गले से) अमरनाथ, ये महारोग के धब्बे तो इतने दिनों से लादे हूँ—वह धब्बा तो मुझे दबा देगा··· । मेरे कर्मों का फल बहुत है मुझे भोगने को··· । (साँस लेकर) आज क्या हो गया है तुझे ?

अमर—मेरा विश्वास टूट गया है पिताजी ।

मुरारी—सच्चा विश्वास कभी नहीं टूटता । टूटता है धैर्य । तू धैर्य खो बैठा है ।

सरिता—(करुण स्वर में) पिताजी, इन्हें अचला पर मुझसे अधिक विश्वास हो गया है । उस अचला पर जो इन्हें मोड़ पर छोड़कर मुड़ गई ।

अमर—उसने मोड़ पर छोड़ा, तुम काँटों में ढकेल रही हो। न दूध की धुली वह थी न तुम हो—

मुरारी—बेटा, कौन है दूध का धुला संसार में ? अपनी कमजोरियाँ छोड़कर हम आदमी भी तो नहीं रह जाते। अचला स्त्री है—सरिता स्त्री—हम तुम सभी एकसे हैं···

सरिता—पिताजी···पर···

अमर—पर तुम यह कहना चाहती हो कि तुम हम लोगों से अलग हो—देवी हो—हम लोगों से ऊपर हो। (क्रोध से) यही तुम्हारे ओछेपन का सबूत है।

सरिता—(क्रोध से) आप बहुत कुछ कहे जा रहे हैं—

मुरारी—बहू ! बेटा ! यह क्या है ! अभी तो लोगों के लिए केवल मैं ही विषय था, अब तुम दोनों भी क्यों उनकी हँसी का कारण बनना चाहते हो ? (भरे कण्ठ से)···हे भगवान् ! कितना दण्ड दोगे मुझे ! अब तो नहीं सहा जाता···।

अमर—(क्रोध से) पिताजी, आप सारी उलझनें क्यों अपने सिर ले लेते हैं—मैंने अभी तो आपसे कुछ नहीं कहा।

मुरारी—आदत हो गई है बेटा।···पर मैं तुम दोनों को झगड़ने नहीं दूँगा—(पागलों की तरह) अगर तुम दोनों झगड़ोगे तो इसी दरवाजे पर सिर पटक-पटक फोड़ लूँगा—(दरवाजे की ओर जाते हुए) घर में घुसते समय इस दरवाजे पर चन्दन लगा था—अमर की माँ ने अपने हाथों लगाया था। (दरवाजे पर सिर पटकते हुए) मैं इस पर अपना खून लगाकर चला जाऊँगा—पर यहाँ झगड़ा···।

अमर—(पकड़ता है) पिताजी—पिताजी—ये आप क्या कर रहे हैं··· !

मुरारी—(उसी तरह) मुझे मत छुओ—(सिर पटकते हुए) मेरा खून तुम्हारा खून शान्त कर देगा··· । (गिर पड़ता है)

सरिता—(दौड़कर पकड़ती है) पिताजी··· !

मुरारी—(दबे, करुण स्वर में) अरे···अरे···मुझे छू लिया—महारोगी को छू लिया !···बहू···लोग क्या कहेंगे···

(आवाज रुक जाती है)

सरिता—(रोकर) डाक्टर को बुलाइए ।

(अमर पागलों की तरह भागता है)

सरिता—(रोकर मुरारी का पट्टियों वाला हाथ पकड़े हुए) घनसू ! घनसू ! जल्दी आओ !

(पर्दा गिरता है)